ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, प्रथम पुष्प

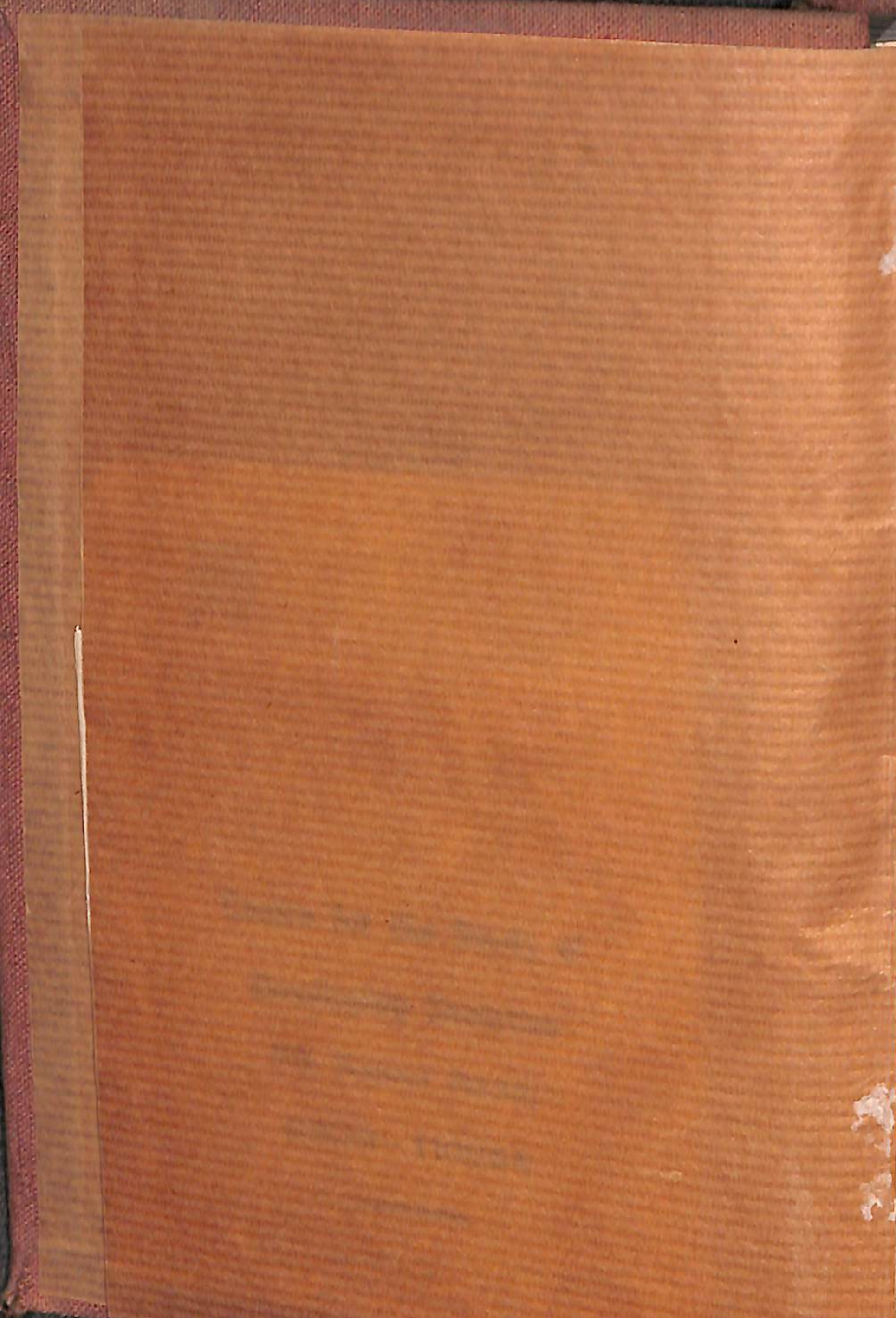


तत्त्व-चिन्तामणि

(भाग ३)



जयदयाल गोयन्दका



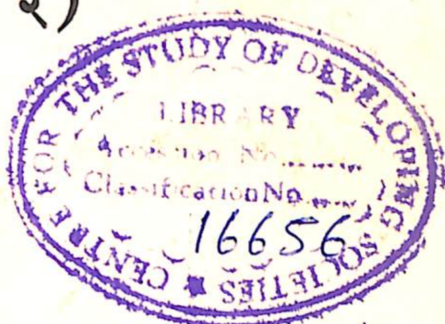
Nirmala Devi

ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, दशम पुष्प

तत्त्व-चिन्तामणि

(भाग ३)



जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् १९९४
प्रथम संस्करण ५२५०

मूल्य
अजिल्द ॥=)
सजिल्द ॥।=)

पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

यह 'तत्त्व-चिन्तामणि' का तीसरा भाग है। लेखकके अनुभवपूर्ण विचारोंसे पाठकोंको बहुत लाभ पहुँचता देखकर इस तीसरे भागके प्रकाशनकी व्यवस्था की गयी है। पहले दो भागोंकी भाँति इसमें भी मनुष्य-जीवनके असली उद्देश्यका ज्ञान कराकर विषयोंके अन्धकारभरे गहन जंगलमें भटकते हुए मनुष्योंको भगवान्‌की प्रकाशमयी सुन्दर राहपर चढ़ानेवाले, आसुरी सम्पदाका विनाशकर दैवी सम्पदाको बढ़ानेवाले, सदाचार और सद्विचारोंमें प्रवृत्ति करानेवाले, भ्रम-सन्देहोंका नाश करके और भगवान्‌के दिव्य गुण, रहस्य, प्रभाव और प्रेमको प्रकट करके श्रीभगवान्‌के पावन चरणोंमें प्रीति प्राप्त करानेवाले, तथा दुर्लभ भगवत्तत्त्वका सहज ही ज्ञान करानेवाले सरल भाषामें लिखे हुए सुन्दर और सुपाठ्य सब लोगोंके लिये कल्याणकारी, शास्त्रसम्मत और अनुभवयुक्त विचारोंसे पूर्ण लेखोंका ही संग्रह किया गया है। लेखक और लेखोंमें व्यक्त किये हुए विचारोंकी बड़ाईमें विशेष कुछ कहना तो उनका तिरस्कार ही करना है।

पाठक-पाठिकाओंसे करबद्ध प्रार्थना है कि वे मन लगाकर इन पुस्तकोंको पढ़ें, समझें और समझकर तदनुसार जीवन बनानेकी श्रद्धा तथा प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करें। यदि ऐसा किया गया तो मेरा विश्वास है कि उन्हें कुछ ही दिनोंमें प्रत्यक्ष लाभ दिखायी देगा और अपने जीवनमें एक विलक्षण शान्ति और आनन्दका स्रोत उमड़ता देखकर वे चकित हो जायँगे!

पौष, संवत् १९९४ | रतनगढ़ (बीकानेर)

विनीत—

हनुमानप्रसाद पोद्दार



ॐ

विनय

तत्त्व-चिन्तामणिका यह तीसरा भाग भी समय-समयपर 'कल्याण' मासिक पत्रमें निकले हुए लेखोंका ही संशोधित संग्रह है।

मैं न तो कोई विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश, आदेश और शिक्षा देनेका अधिकारी ही समझता हूँ तथापि आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे स्त्री, बालक और शास्त्रानभिज्ञ मनुष्योंमें उच्छृङ्खलता और नास्तिकता बढ़ रही है, उसके प्रभावसे प्राचीन ऋषि-महात्माओंके महत्त्वको न जाननेके कारण लोग उनकी निन्दा कर रहे हैं और अपनी जाति, धर्म और सदाचारको परित्याग कर इस नास्तिकताकी आँधीमें पड़कर उस दयामय परमात्माके गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण धर्म और ईश्वरकी अवहेलना कर रहे हैं, यह देखकर सदाचार और ईश्वरभक्तिपर कुछ लिखनेका प्रयास किया गया है।

इस पुस्तकके पढ़नेसे यदि किसी भी पाठकके चित्तमें सद्गुण, सदाचार एवं ईश्वरभक्तिका किञ्चित् भी सञ्चार होगा तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूँगा। प्रेमी पाठकोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि वे कृपा करके इस पुस्तकको मन लगाकर पढ़ें और जो-जो बातें आपको अच्छी मालूम दें उन्हें यथाशक्ति काममें लानेकी चेष्टा करें। जो-जो त्रुटियाँ उनके ध्यानमें आवें उनके लिये मुझे क्षमा करते हुए, बतलानेकी कृपा करें।

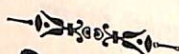
विनीत—

जयदयाल गोयन्दका



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची



चित्र-सूची







ध्यानयोगी ध्रुव

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय



मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है। समयकी कीमत न जाननेके कारण ही लोगोंका बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है, इसीलिये आत्मकल्याणमें विलम्ब हो रहा है। कहा जा सकता है कि कानूनपेशा वकील-बैरिस्टर प्रभृति तो समयका सदुपयोग करते हैं क्योंकि वे अपने समयके प्रत्येक मिनटका पैसा ले लेते हैं; किन्तु पैसोंसे मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य अपने अनमोल समयको पैसोंके बदले बेच डालते हैं, पैसोंसे होनेवाले भावी दुष्परिणामको नहीं समझनेके कारण पैसे इकट्ठे करते चले जाते हैं और जीवित कालमें उनसे कुछ भौतिक सुखकी प्राप्ति करते हैं, वे वस्तुतः कल्याण-मार्गमें कुछ भी अग्रसर नहीं होते।

मरनेके समय उन्हें एकत्र किया हुआ धन यहीं छोड़ जाना पड़ता है, उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह शोक और चिन्ताको बढ़ानेवाला ही होता है। अतएव जो धन, मान आदिके मोलपर अपने अमूल्य समयको बेच डालते हैं वे अपनी समझसे बुद्धिमान् होनेपर भी वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं हैं। बुद्धिमान् तो वही कहे जा सकते हैं जो जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य कार्योंमें ही लगाते हैं; और अमूल्य कार्य भी उसीको समझना चाहिये, जिससे अमूल्य वस्तुकी प्राप्ति हो। वह अमूल्य वस्तु है—परमात्माके तत्त्व-ज्ञानसे होनेवाली आत्मोन्नतिकी चरम सीमा—परमेश्वरके स्वरूपकी प्राप्ति; इसीको दूसरे शब्दोंमें परम-पदकी प्राप्ति अथवा मुक्ति भी कहते हैं।

दुःखकी बात है कि बहुत-से भाई तो ऐसे हैं जो अपने समयको चौपड़, तास, शतरञ्ज आदि खेलनेमें, सांसारिक भोगोंमें एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ ही बिता देते हैं। बहुत-से ऐसे मूढ़ हैं जो जीवनके अमूल्य समयको चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि कुकर्मोंमें बिताकर इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुःखके भाजन बनते हैं; और कितने ऐसे हैं जो सुल्फा, गाँजा, कोकिन और मदिरा आदि मादक द्रव्योंके सेवनमें समय नष्ट करके नरकके भागी बनते हैं। यह समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग है।

उचित तो यह है कि हमारा प्रत्येक श्वास श्रीभगवान्‌के स्मरणमें ही बीते। एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। फिर पाप और

प्रमादमें बिताना तो अत्यन्त ही मूर्खता है । असलमें बात यह है कि समयकी उपयोगिताको हमलोगोंने अभी समझा नहीं । जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी होती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरण बिना नहीं बीत सकता । हम किरायेकी मोटरपर सवार होकर कहीं जाते हैं और रास्तेमें किसी सज्जनसे बातें करनेके लिये मोटरको रोकना पड़ता है तो उस समय हम उनसे अच्छी तरह बात नहीं करना चाहते क्योंकि हमारी नजर तो प्रति मिनट करीब दो आने चार्ज करनेवाले मोटरपर लगी रहती है । यह पैसेकी उपयोगिता समझनेका नमूना है । प्रति मिनटके दो आने पैसेसे भी हम समयकी उपयोगिताको अधिक नहीं समझते । हमारे लिये उचित तो यह है कि जैसे मोटरमें बैठे किसीसे बात करते समय हमारा मन पैसोंमें लगा रहता है इसी प्रकार संसारका प्रत्येक कार्य करते समय अमूल्य जीवनका एक-एक क्षण मुख्यरूपसे श्रद्धा और प्रेमके साथ परम प्रेमास्पद परमात्माके चिन्तनमें ही लगाना चाहिये ।

इस प्रकार चिन्तन करते-करते भगवान्‌की दयासे किसी भी क्षण हमें भगवत्-प्राप्ति हो सकती है । जिस क्षणमें भगवत्-प्राप्ति होती है, उसी क्षणका जीवन अत्यन्त अमूल्य है । उस समयकी तुलना किसीके साथ भी नहीं की जा सकती । परन्तु वैसा समय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक चिन्तन करनेसे ही प्राप्त होता है । इसलिये हमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके स्वरूपके सदा-सर्वदा चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये । ऐसा

करनेपर हमारा सभी समय अमूल्य समझा जायगा। यदि प्रेम और श्रद्धाकी कमीके कारण जीवनभरमें भगवत्-प्राप्ति न भी हुई, तो भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अभ्यासके बलसे अन्तसमयमें तो भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन अवश्य होगा ही, और गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो अन्तसमय मेरा चिन्तन करता हुआ जाता है वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है; इसमें कोई भी संशय नहीं है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

किन्तु खेदकी बात है कि हमलोग ईश्वरके भजनकी कीमत कौड़ियोंके जितनी भी नहीं करते। मान लीजिये, एक पुरुष साल-भरमें आठ हजार एक सौ रुपये कमाता है, वह यदि रोजगार छोड़कर* भजन करे तो उसका भी वह भजन कौड़ियोंसे सस्ता पड़ता है।

वार्षिक ८१००) के हिसाबसे एक महीनेके ६७५), एक दिनके २२॥), एक घण्टेका ॥।≡) एवं एक मिनटका एक पैसा होता है। एक पैसेकी अधिक-से-अधिक साठ कौड़ी समझी जाय और ईश्वरका

* वास्तवमें रोजगारको स्वरूपसे छुड़ानेका हमारा अभिप्राय नहीं है, केवल भजनकी महिमा दिखानेके लिये लिखा गया है। उत्तम बात तो यह है कि मुख्य वृत्तिसे परमात्माको याद रखता हुआ गौणी वृत्तिसे व्यवहार करे।

नामस्मरण एक मिनटमें कम-से-कम एक सौ बीस बार किया जाय यानी एक सेकण्डमें दो नाम लिये जायँ तो भी वह कौड़ियोंसे मन्दा पड़ता है। जब ८१००) सालाना कमानेवालेसे भजनकी परता कौड़ियोंसे मन्दी पड़ती है, फिर हजार-पाँच सौ रुपये सालाना कमानेवालेकी तो गिनती ही क्या है?

कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी आसक्तिमें फँसकर जो लोग अपने अमूल्य समयको बिताते हैं, उनका वह समय और परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी आत्माका अधःपतन भी होता है।

धनकी आसक्तिमें फँसा हुआ लोभी मनुष्य अनेक प्रकारके अनर्थ करके धन कमाता है। धनके कमाने और उसकी रक्षा करनेमें बड़ा भारी क्लेश और परिश्रम होता है। उसके खर्च करनेमें भी कम दुःख नहीं होता और फिर धनको त्याग कर जानेके समय तो किसी-किसीको प्राण-वियोगसे भी बढ़कर दुःख होता है। जैसे निर्धन आदमी धन-उपार्जनकी चिन्ता करता है और ऋणी ऋण चुकानेके लिये व्याकुल रहता है वैसे ही धनी आदमी धनकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है।

वस्तुतः धन कमानेकी लालसा आत्माका अधःपतन करनेवाली है, इसी प्रकार स्त्री-सङ्गकी इच्छा उससे भी बढ़कर आत्माका पतन करती है। पर-स्त्री-गमनकी तो बात ही क्या है, वह तो अत्यन्त ही निन्दनीय और घोर नरकमें ले जानेवाला कर्म है, परन्तु अपनी विवाहिता स्त्रीका सहवास भी शास्त्रविपरीत हो तो

कम हानिकर नहीं है। आसक्तिके कारण शास्त्रविपरीत होना मामूली बात है। जब साधन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे मनको विषयोंमें लगा देती हैं, तो फिर साधन-रहित विषयासक्त पामर मूर्खोंका तो पतन होना कौन बड़ी बात है ?

जैसे मूर्ख रोगी स्वादके वश हुआ कुपथ्य करके मर जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीका अनुचित सेवन करके अपना नाश कर डालता है। विलासिताकी बुद्धिसे स्त्रीका सेवन करनेसे कामोद्दीपन होता है और कामका वेग बढ़नेसे बुद्धिका नाश हो जाता है; कामसे मोहित हुआ नष्टबुद्धि पुरुष चाहे जैसा विपरीत आचरण कर बैठता है, जिससे उसका सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

स्त्रीके सेवनसे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, उत्साह, स्मृति और सद्गुणोंका नाश हो जाता है, एवं शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर मनुष्य मृत्युके समीप पहुँच जाता है; तथा इस लोकके सुख, कीर्ति और धर्मको खोकर नरकमें गिर पड़ता है। यही आत्माका पतन है, इसीलिये साधुजन कञ्चन और कामिनीका भीतर और बाहरसे सर्वथा त्याग कर देते हैं। वास्तवमें भीतरका त्याग ही असली त्याग है क्योंकि ममता, अभिमान और आसक्तिसे रहित हुआ गृही मनुष्य, न्याययुक्त कञ्चन और कामिनीके साथ सम्बन्ध रखनेपर भी त्यागी ही माना गया है।

मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें तो अच्छे-अच्छे साधक भी फँस जाते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा साधनपथमें भी दूरतक मनुष्यका पिण्ड नहीं छोड़ती। आरम्भमें तो यह अमृतके

तुल्य प्रतीत होती है परन्तु परिणाममें विषसे भी बढ़कर है। अज्ञानवशतः यह बहुत-से अच्छे-अच्छे पुरुषोंके चित्तको डाँवाडोल कर देती है।

साधक पुरुष भी मोहके कारण इस प्रकार मान लेते हैं कि मेरी पूजा और प्रतिष्ठा करनेवाले पवित्र होते हैं, इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं। परन्तु ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि उन्हें धोखा देती है और वे मोह-जालमें फँसकर साधनपथसे गिर जाते हैं। बहुत-से पुरुष तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाके लिये ही ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।

दूसरे जो जिज्ञासु अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्म करते हैं वे भी मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको पाकर फिसल जाते हैं और उनके ध्येयका परिवर्तन हो जाता है। ध्येयके बदल जानेसे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही उनके सब काम होने लगते हैं और झूठ, कपट-दम्भ और घमण्डको उनके हृदयमें स्थान मिल जाता है, इससे उनका भी अधःपतन हो जाता है।

कुछ जो अच्छे साधक होते हैं, उनका ध्येय तो नहीं बदलता परन्तु स्वाभाविक ही मनको प्रिय लगनेके कारण मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें फँसकर वे भी उत्तम मार्गसे रुक जाते हैं। आजकल जो साधु, महात्मा, भक्त और ज्ञानी माने जाते हैं उनमेंसे तो कोई बिरले ही ऐसे होंगे, जो इनके जालमें न फँसे हों।

पामर और विषयासक्त पुरुषोंको तो ये अमृतके तुल्य दीखते ही हैं किन्तु बुद्धिमान् साधक पुरुषको भी ये देखनेमें अमृतके तुल्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् साधक तत्त्वज्ञानी और विरक्त पुरुषोंके संगके प्रतापसे विचार-बुद्धिके द्वारा परिणाममें विषके सदृश समझकर इनको नहीं चाहते।

इनमेंसे भी जो मुलाहिजेमें फँसकर या मनके धोखेसे स्वीकार कर लेते हैं, वे भी प्रायः गिर जाते हैं।

जो उच्च श्रेणीके साधक हैं और जिन्हें इन सबमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन विरक्त पुरुषोंकी इन सबमें प्रत्यक्ष घृणा हो जाती है। इसलिये वे इनसे उपराम हो जाते हैं। जैसे मद्य और मांस न खानेवालेके चित्तकी वृत्तियाँ मद्य-मांसकी ओर स्वाभाविक ही नहीं जातीं वैसे ही उन विरक्त पुरुषोंके चित्तकी वृत्तियाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी ओर नहीं जातीं। बुद्धिमान् रोगी जैसे कुपथ्यसे डरते हैं वैसे ही वे उनके संसर्ग और सेवनसे (मृत्युके सदृश) डरते हैं। जहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा होती है वहाँ प्रथम तो प्रायः वे लोग जाते ही नहीं, यदि जाते हैं तो उन सबको स्वीकार नहीं करते। कोई बलात्कारसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कर देता है तो उनके दिलमें वे सब खटकते हैं।

जो ज्ञानवान् हैं अर्थात् ईश्वरके तत्त्वज्ञानसे जिन्हें परम वैराग्य और परम उपरामता प्राप्त हो गयी है, उनके विषयमें तो कुछ लिखना बनता ही नहीं। वे तो समुद्रके सदृश गम्भीर, निर्भय और धीर होते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको तो वे चाहते ही नहीं,

यदि बलात्कारसे कोई कर देते हैं तो वे इतने उपराम होते हैं कि श्रीशुकदेवजीको भाँति वे उनकी परवा ही नहीं करते।

जब उनकी दृष्टिमें परमात्माके अतिरिक्त संसार ही नहीं है तो फिर राग, वैराग्य, मान, अपमान, निन्दा, स्तुतिको स्थान ही कहाँ है? उन पुरुषोंको छोड़कर और कोई विरला ही पुरुष होगा जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको पाकर नहीं गिरता।

अतएव कञ्चन, कामिनी, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके मोहमें फँसकर अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ गवाँकर आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास ऐसा अमूल्य है कि जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वरकृपाके प्रभावसे उत्तम देश, काल और सत्संगको पाकर यह मनुष्य एक क्षणमें भी परम-पदको प्राप्त हो सकता है। किसी कविने भी कहा है—

ऐसे महँगे मोलका एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहीं पटतरे काहे धूरि मिलाय॥

मनुष्यके जीवनका समय बहुत ही अनमोल है। एक-एक श्वासपर सौ-सौ रुपये खर्च करनेसे भी एक श्वासका समय नहीं बढ़ सकता। रुपये खर्च करनेसे समय मिल जाता तो राजा-महाराजा कोई नहीं मरते।

पैसोंहीसे नहीं, रत्नोंके मोलपर भी मनुष्य-जीवनका समय

हमको नहीं मिल सकता। इसलिये ऐसे अमूल्य समयको जो व्यर्थ खोयेगा, उसको अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील संसारके सभी पदार्थ जीर्ण और नाशको प्राप्त होते हुए क्षण-क्षणमें हमलोगोंको चेतावनी दे रहे हैं, परन्तु हमलोग नहीं चेतते।

प्रति सेकेण्ड टिक-टिक करती हुई घड़ी हमें समय बतलाती है परन्तु हम ध्यान नहीं देते। हमारे शरीरके नख, रोम और अवस्थाओंका परिवर्तन, इन्द्रियोंका ह्रास तथा बीमारियोंकी उत्पत्ति हमको समय-समयपर मौतकी याद दिलाती है तो भी हम सावधान नहीं होते। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा?

हमलोग मायारूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो गये हैं कि उसका नशा कभी उतरता ही नहीं। सन्त कवियोंने भी हमें कम चेतावनी नहीं दी है परन्तु हम किसीकी परवा ही नहीं करते, फिर हमारा कल्याण कैसे हो?

नारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण एक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

श्रीकबीरदासजीके वचन तो चेतावनीसे भरे हुए हैं—

कबीर नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय॥

आजकाल की पाँच दिन जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं ढोर चरैंगे घास॥
मरहुगे मरि जाओगे कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे छाँड़ि बसंता गाम॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास॥
कबीर सूता क्या करे जागो जपो मुरार।
एक दिन ऐसे सोउगे लंबे पैर पसार॥

जब कबीर-सदृश सन्तकी चेतावनी सुनकर भी हमारी अज्ञान-निद्रा भंग नहीं होती तो दूसरोंकी तो हम सुनें ही क्या ?

कर्तव्यको भूलकर भोग, प्रमाद, आलस्य और सांसारिक स्वार्थ-सिद्धिमें मोहित होकर तल्लीन हो जाना ही निद्रा है।

चराचर भूतप्राणी ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वरका स्वरूप ही है। इस प्रकार समझकर उनके हितमें रत होकर उनकी सेवा करना और सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके तत्त्व-को जानकर उनको कभी नहीं भूलना, यही जागना है।

श्रुति भी इसी बातको लक्ष्य कराती हुई डंकेकी चोट हमें जगा रही है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है, यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन-कर परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्मा-को प्राप्त हो जाते हैं।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
(कठ० १ । ३ । १४)

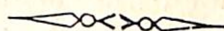
उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो।

ऐसे चेतानेपर भी हमलोग नहीं चेतेंगे तो फिर हमलोगोंका उसी दशाको प्राप्त होना अनिवार्य है जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागरहि नर समाज अस पाय।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आतमहन गति जाय ॥



समयका सदुपयोग



समयकी अमूल्यताके रहस्यको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको समझते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर केवल ईश्वरके चिन्तनमें ही लगावे। यदि मनुष्य भगवच्चिन्तनका ऐसा अभ्यास करे तो उसको बहुत अल्प समयमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारके अभ्याससे सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुराचारों एवं दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और मनुष्य अनायास ही सदाचार और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त होता है।

संसारमें चौरासी लाख जातिके अनन्त जीव शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। इन सबमें परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार केवल मनुष्यको ही माना गया है। परमात्माकी असीम दयाके प्रभावसे तो अनधिकारी पशु-पक्षी तिर्यक् योनिके जीवोंको भी परमात्माकी प्राप्ति

हो जाती है। इस प्रकारकी बातें इतिहासोंमें मिलती हैं। परन्तु वह अपवादरूप है, नियम नहीं। सारी सृष्टिके जीवोंकी संख्याका अनुमान करना तो वस्तुतः लड़कपन है परन्तु मनुष्यकी साधारण बुद्धिसे इतना कहा जा सकता है कि समस्त सृष्टिके अनन्तकोटि जीवोंमें मनुष्यकी संख्या अपार समुद्रमें एक क्षुद्र तरंगके समान ही है। यदि प्रत्येक योनिको भोगते हुए ठीक क्रमसे जीवको मनुष्य-शरीर मिले तब तो अनेकों युगोंके बाद उसका मिलना सम्भव है। आचरणोंकी ओर देखनेपर भी निराशा ही होती है, आचरण तो ऐसे हैं कि उनसे शीघ्र मनुष्य-शरीर मिलनेकी आशा ही नहीं की जा सकती। जिसको मनुष्य-शरीर मिलता है उसपर ईश्वरकी महान् दया समझनी चाहिये। इसीसे श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है—

आकर चारि लाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अबिनासी॥
फिरत सदा मायाके प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुण घेरे॥
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥

अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको यह समझ रखना चाहिये कि अनन्त युगोंसे भटकते हुए अनन्तकोटि जीवोंमें जो अत्यन्त ही भाग्यशाली और मुक्तिके अधिकारी समझे जाने योग्य जीव होते हैं उन्हींको ईश्वर यह दुर्लभ मुक्तिदायक मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं। ऐसे दुर्लभ और क्षणभंगुर अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर जो जीव शीघ्र-से-शीघ्र अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्पर नहीं होता, उसके समान मूर्ख और कोई भी नहीं है। जब मनुष्यका

शरीर मिल गया, तब यह समझ लेना चाहिये कि सामान्यभावसे मुक्तिके अधिकारी तो हम हैं ही। ऐसा न होता तो मनुष्य-शरीर ही हमें क्यों दिया जाता। दयामयकी अपार दया है जिसने हमें मुक्तिका अधिकारी बनाया। इस अधिकारको पाकर भी यदि हम उस दयामयकी दयाकी अवहेलना कर अपने समयको व्यर्थ भोग, प्रमाद, पाप और आलस्यमें बितावें तो उसे मूढ़ताके अतिरिक्त और क्या कहा जाय? आहार, निद्रा और मैथुनादि तो प्रायः सभी योनियोंमें प्राप्त होते ही रहते हैं, फिर मनुष्यके शरीरको पाकर भी यदि जीव उन्हीं विषयोंमें अपना जीवन बिताता रहे तो फिर उस मनुष्यमें और पशुमें अन्तर ही क्या रह जाता है। कुतियाके साथ कुत्तेको जो सुख प्राप्त होता है, वही राजाको रानीके साथ और इन्द्रको इन्द्राणीके साथ प्राप्त होता है। पुष्पोंकी सुकोमल शय्यापर सोनेमें जो सुख विलासी मनुष्यको मिलता है, वही सुख गदहेको घूरेकी राखपर लोटनेमें मिलता है। नाना प्रकारके मेवा-मिष्टान्न खानेमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द कुत्ते, कौवे आदि पशु-पक्षियोंको अपने-अपने आहारमें मिलता है। ईश्वरकी दयाके फलस्वरूप दुर्लभ मनुष्य-शरीरको और ऐसी मानवी बुद्धिको पाकर भी यदि हम इन पशु-पक्षियोंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनादि-को ही सर्वोत्तम सुख समझकर इन्हींमें अपना समय बितावें तो वास्तवमें हमारा दर्जा इन पशु-पक्षियोंसे भी बहुत नीचा हो जाता है। क्योंकि उन बेचारोंमें तो इस प्रकार समझने और विचार करनेकी बुद्धि नहीं है। इसीलिये वे इतने दोषी नहीं हैं परन्तु मनुष्यत्वके अभिमानको रखनेवाला प्राणी यदि उन्हींकी भाँति

आचरण करता है तो उसके लिये यह अत्यन्त ही शोक और लज्जाकी बात है।

याद रखना चाहिये कि मनुष्यकी आयु परिमित है और वह भी बहुत ही कम है। अधिक-से-अधिक वर्तमान समयमें सौ वर्षकी आयु मानी गयी है। वह भी आजकल सौ पीछे लगभग पाँचको भी प्राप्त नहीं होती। इस आयुका कितना अंश तो लड़कपनमें ही बीत जाता है। वृद्धावस्थामें साधन प्रायः बन ही नहीं पड़ता। जो लोग यह मानते हैं कि हम वृद्धावस्थामें साधन कर लेंगे, वे बहुत भूल करते हैं। बचा हुआ समय भी अनेक प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे पूर्ण है। हमारे पूर्वसञ्चित पाप, वर्तमानकी कुसंगति और विषयासक्तिके कारण विघ्न-बाधाएँ आती ही रहती हैं। शरीर भी सदा नीरोग नहीं रहता। मनुष्यकी बुद्धि और उसके विचार भी सदा एक-से नहीं रहते। कुसङ्गमें बुद्धि बिगड़ ही जाती है और जगत्में प्रायः कुसङ्ग ही अधिक होता है। आलसी, भोगी, प्रमादी, दुराचारी, अहङ्कारी और नास्तिक मनुष्योंका सङ्ग ही कुसङ्ग है। फिर पता नहीं, मौत किस क्षणमें आ जाय। ऐसे घोर विघ्नोंसे बचकर इतने अल्पकालमें अपने ध्येयकी सिद्धि वही बुद्धिमान् पुरुष कर सकता है जो सब ओरसे मन हटाकर अत्यन्त तत्परताके साथ सम्पूर्णरूपसे ध्येयकी सिद्धिके प्रयत्नमें ही लग जाय। वास्तविक बुद्धिमान् वही है जो ऐसे अमूल्य समयका एक भी क्षण आलस्य और प्रमादमें न बिताकर प्रतिक्षण अपने लक्ष्यपर लगा रहता है। मनुष्यको अपनी इस आयुका एक-एक क्षण बड़ी सावधानीके साथ उसी प्रकार परम आवश्यक साधनमें लगाना चाहिये जिस प्रकार

कोई अत्यन्त गरीब और आजीविकासे रहित कंजूस मनुष्य अपने थोड़े-से परिमित पैसोंको अत्यावश्यक कार्यमें ही व्यय करता है। समयकी अमूल्यताके रहस्यको जाननेवाले पुरुष कदापि समयका व्यर्थ व्यय नहीं कर सकते । अतएव हमलोगोंको चाहिये कि मृत्युके समीप पहुँचने और वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेके पहले-पहले ही तत्परतासे प्रयत्न करके अपने ध्येयकी सिद्धि कर लें । नहीं तो पीछे बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछिताय ।
कालहि करमहि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय ॥

अभी बहुत अच्छा मौका है । क्योंकि इस घोर कलिकालमें निष्काम-भावसे किया हुआ थोड़ा-सा भी भगवद्भजनरूप साधन कल्याणकारी माना गया है । तिसपर ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है । इतनेपर भी यदि हम उसकी दया, प्रेम और प्रभावके रहस्यको समझकर उसका भजन करनेके लिये कटिबद्ध न हों तो फिर कर्मोंके और समयके मत्थे दोष मढ़ना सर्वथा असङ्गत है । अतएव उठो, सावधान होओ, और महर्षियोंद्वारा बतलाये हुए अपने परम ध्येयकी सिद्धिके लिये कमर कसकर प्रयत्नमें लग जाओ ।

आजसे कल और कलसे परसों यों उत्तरोत्तर जो आत्मोन्नतिके पथपर आगे बढ़ते हैं, वे बुद्धिमान् हैं । श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रोंमें बतलायी हुई बातोंमें जो सर्वोत्तम प्रतीत हों उन्हींके आचरणमें अपना समय लगाना चाहिये । साथ ही अपनी दृष्टिमें जो शास्त्रानुमोदित लक्षणोंवाले महापुरुष हों, उनके बतलाये

हुए पथपर चलना चाहिये। ऐसे महापुरुषोंके उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। यदि उत्तम पुरुषोंका समागम न मिले तो पूर्वमें होनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़कर उनके गुण और आचरणोंको आदर्श मानकर तदनुसार अपने जीवनको उत्तरोत्तर सर्वोत्कृष्ट बनाते रहना चाहिये। जबतक जीवन रहे तबतक आगे बढ़ता ही रहे। कहींपर यह न मान बैठे कि मेरी सर्वोपरि उन्नति हो गयी, इसके आगे और कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा मानना उन्नतिके मार्गको रोक देना है। रोक देना ही नहीं, इस प्रकार मान बैठनेवाले अनेकों मनुष्य तो अपनी स्थितिसे ही गिर जाते हैं।

मानवी बुद्धिरूपी गजसे वास्तविक उन्नतिका माप हो ही नहीं सकता। वह गज उसकी सीमातक नहीं पहुँच सकता। जहाँ सीमा शेष हो जाती है, देहाभिमानका सर्वथा नाश हो जाता है वहाँ तो इस बातको माननेवाला या कहनेवाला कोई धर्मी रह नहीं जाता कि मुझको अब कोई कर्त्तव्य नहीं है। और जबतक देहाभिमान है अर्थात् जबतक देहको आत्मा माननेवाला या देहका स्वामी बना हुआ कोई धर्मी है तबतक कर्त्तव्यका अन्त मान लेना बड़ी भारी भूल है। जबतक देहमें किसी भी रूपमें अपनी व्यवस्था करनेवाला, अपनी स्थिति समझनेवाला कोई धर्मी है तबतक उसको उत्तरोत्तर उन्नतिके प्रयत्नमें लगे रहना चाहिये। जो पुरुष परमात्माको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त हो जाता है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, तथापि लोक-उद्धारके लिये उसके

द्वारा भी कर्म होते रहते हैं। अवश्य ही उसके कर्म अकर्म ही बतलाये गये हैं।

उन्नति चाहनेवाले पुरुषके लिये कर्त्तव्यकी समाप्ति कभी होती ही नहीं। संसारमें निषिद्ध कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा निषिद्ध कर्म न करनेवाले उत्तम हैं, उनसे उत्तम वे हैं जो धन, पुत्र, स्त्री, मान, बड़ाई या स्वर्गादिकी कामनासे उत्तम आचरण और ईश्वरकी भक्ति करते हैं। उनसे श्रेष्ठ वे हैं जो सदाचार-पालन और ईश्वरकी भक्ति करते समय तो भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगते, परन्तु पीछे किसी सङ्कटमें पड़नेपर उस सङ्कटकी निवृत्तिके लिये ईश्वरसे याचना करते हैं। उनसे भी वे श्रेष्ठ हैं जो आत्मोद्धारके अतिरिक्त अन्य किसी भी बातके लिये कभी इच्छा नहीं रखते, वे तो अति श्रेष्ठ हैं जो ईश्वरके तत्त्वको जानकर बिना ही किसी हेतुके स्वाभाविक ही ईश्वरकी भक्ति और सदाचारका प्रेमपूर्वक पालन करते हैं। और उन महापुरुषोंके लिये तो कुछ कहना ही नहीं बनता जो ईश्वरको प्राप्त हो चुके हैं। ईश्वरप्राप्त पुरुषोंमें भी वे सर्वोत्तम हैं जिनको ईश्वरकी ओरसे संसारमें सदाचार और भक्तिके प्रचारके लिये आदेश या अधिकार प्राप्त है। ईश्वरके यहाँसे जो इस बातका अधिकार लेकर आते हैं उन्हींको कारक पुरुष और अंशावतार भी कहते हैं। और दयामय भगवान् तो सबसे उत्तम और समस्त उत्तमताके आधार ही हैं जो जीवोंके उद्धारके लिये स्वयं समय-समयपर अवतीर्ण होकर शाश्वत धर्म और परमपावनी भक्तिका प्रचार करते हैं। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह सर्वोत्तम पुरुषको अपना आदर्श और ध्येय मानकर उनके आचरण और गुणोंका अनुकरण

तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनानेमें ही अपना समय लगावे । इसीमें मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है ।

इस प्रकारकी सर्वोच्च उन्नतिके लिये अर्थात् श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमकी सबसे बढ़कर आवश्यकता है । श्रद्धा पहले होती है, तभी प्रेम होता है । सबसे उत्तम श्रद्धाके पात्र तो परमेश्वर ही हैं । दूसरे वे भी श्रद्धाके पात्र हैं, जिनके संगसे हमारी परमेश्वरमें श्रद्धा होती है, जिनको परमेश्वरकी प्राप्ति हो चुकी है अथवा जो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं । परमेश्वर, साधु-महात्मा और उनके वचन, आचरण तथा गुणोंमें जो प्रत्यक्षवत् विश्वास और उच्चभाव है, उसीका नाम श्रद्धा है । जैसे एक पत्थर है और किसी महापुरुषने उसे पारस बतला दिया, तो ऐसी अवस्थामें महापुरुषमें श्रद्धालु मनुष्यको वह पत्थर उसी क्षण पारस ही दीखने लगता है । यानी हमने एक चीजको देखा है, सुना है और समझा है, उसी चीजको यदि महापुरुष दूसरी चीज (हमारे प्रत्यक्ष अनुभवसे विपरीत) बतावें, और उनके बतलाते ही हमारे मनमें और हमारी दृष्टिमें हमारी समझी हुई चीज न रहकर महापुरुषकी बतलायी हुई चीज ही प्रत्यक्ष हो जाय । यह सर्वोत्तम श्रद्धा है । चीज वैसी दीखे तो नहीं परन्तु श्रद्धाके कारण विश्वास कर लिया जाय, यह मध्यम श्रद्धा है, और महापुरुषके द्वारा बतलायी हुई बातमें विश्वास करनेकी कोशिश करना कनिष्ठ श्रद्धा है । हमें महापुरुषोंमें श्रद्धा करनी चाहिये । परन्तु आजकल प्रथम तो संसारमें परमेश्वरकी प्राप्तिवाले महापुरुष

हैं ही बहुत कम। यदि कोई हैं तो उनका मिलना कठिन है और मिल भी जायँ तो उनको पहचानना अति दुर्गम है। यदि दैवयोग-से हमें महापुरुष मिल जायँ तो ईश्वरकी बड़ी कृपा समझनी चाहिये। न मिलें तो, उनके दिये हुए सदुपदेश और उनके जीवनके शुद्ध आचरणोंको आदर्श मानकर उनमें श्रद्धा करनी चाहिये। इस मार्गमें चलनेवाले साधकोंका संग भी बहुत सहायक होता है। उनमें भी यथायोग्य श्रद्धा रखनी चाहिये।

श्रद्धासे प्रेम तो आप ही हो जाता है। ईश्वरके प्रति किया हुआ प्रेम तो ईश्वरमें है ही, परन्तु ईश्वरकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंमें, साधकोंमें और शास्त्रोंमें जो प्रेम किया जाता है वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरमें ही है। अवश्य ही प्रेम स्वार्थरहित होना चाहिये। स्वार्थरहित प्रेमसे ही परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति होती है। अपने प्रेमास्पदके गुण, स्वभाव, आचरण, नाम और स्वरूपका श्रवण, पठन और चिन्तन होते ही शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात, कम्प, कण्ठावरोध, प्रफुल्लता आदि लक्षणोंका प्रकट हो जाना प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। संयोगमें परम प्रसन्नता, परम शान्ति और आत्म-विस्मृति आदिका होना तथा वियोगमें परम व्याकुलता, अत्यन्त असहनशीलता और निरन्तर चिन्तन आदि होना प्रेमके भीतरी चिह्न हैं। प्रेमास्पदके ध्यानमें परम शान्ति और आनन्द तथा व्यवहारकालमें उसके नाम, रूप, गुण और आचरणोंका सतत स्मरण एवं उसके अनुकूल आचरण आदि प्रेमको बढ़ानेवाले हैं। इन सबके मूलमें श्रद्धा रहती है। ये श्रद्धा और प्रेम परमेश्वरके

तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंको समझनेसे होते हैं। अतएव अब हमें तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणके सम्बन्धमें कुछ विचार करना चाहिये। परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंका विस्तार अनन्त है और यह बड़ा ही निगूढ़ विषय है। इसलिये इसका सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करना चाहिये।

तत्त्व

जैसे जलके परमाणु, बादल, जल और बरफ यह सब तत्त्वसे एक जल ही है, वैसे ही अनिर्वचनीय, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और मनोहर साकार विग्रह सब एक भगवान् ही है। आकाश शुद्ध निर्मल है, उसमें परमाणुरूपसे जल है, परन्तु वह न तो नेत्रोंद्वारा दीखता है और न किसी यन्त्रद्वारा ही दिखायी देता है। तथापि उसका होना विज्ञानसिद्ध है। वही जल जब बादलके रूपमें आता है तब भी जल तो नहीं दीखता परन्तु विचार करनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि बादलमें जल है। फिर हवाके संसर्गसे वह बरसने लगता है। और वही जल सर्दी पाकर बरफके रूपमें आ जाता है। ऐसे ही ब्रह्म अनिर्वचनीय, अलक्ष्य, अचिन्त्य और गुणातीत है, उसके किसी एक अंशमें गुणका सम्बन्ध-सा प्रतीत होता है। अर्थात् अनन्त ब्रह्मके किसी एक अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति (अव्याकृत माया) स्थित है। उसी ब्रह्मके अंशको सगुण ब्रह्म कहा जाता है। इस मायाविशिष्ट ब्रह्मको ही सगुण-निराकार ब्रह्म समझना चाहिये। अव्याकृत माया निराकार है परन्तु वह है गुणमयी, इसीलिये उससे सम्बन्ध रखनेवाला ब्रह्म

सगुण-निराकार माना गया है। सत्-चित्-आनन्दस्वरूपसे इसी निराकार ब्रह्मकी उपासना की जाती है। गुणातीतकी उपासना नहीं बन सकती। क्योंकि गुणोंसे अतीत वस्तु किसीका विषय नहीं हो सकती। परन्तु गुणातीतके भावको लक्ष्यमें रखकर सगुण-निराकारकी उपासना की जाती है। उसीका फल गुणातीत शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। वह विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म ही अपनी इच्छासे तेजोमय प्रकाशस्वरूपमें आता है। उसको ज्योतिर्मय भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि सम्पूर्ण ज्योतियोंका प्रकाशक होनेके कारण उसे ज्योतियोंका ज्योति कहा गया है। वही ज्योतिर्मय ब्रह्म चतुर्भुजरूपसे महाविष्णुके आकारमें दिव्य विग्रह धारण करता है। उसी चतुर्भुज महाविष्णुको सगुण-साकार ब्रह्म कहते हैं। वही महाविष्णु ब्रह्मा, विष्णु और महेश-रूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य करता है। जैसे परमाणु, बादल, जल और बर्फ तत्त्वसे विचार करनेपर एक जल ही है। इन सबको लेकर ही जलका एक समग्र रूप है। इसी प्रकार गुणातीत, सगुण-निराकार ज्योतिर्मय और सगुण-साकार सब मिलकर ही एक समग्र ब्रह्म है। इस समग्रको उपर्युक्तरूपसे जानना ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानना है। परन्तु यह बात ध्यान-में रहे कि जल जैसे जड, विकारी और अनित्य है, वैसे भगवान् जड, विकारी और अनित्य नहीं है। संसारमें दूसरा कोई उसकी तुलनामें उदाहरण नहीं है, इसीलिये जलका उदाहरण समझानेके लिये दिया गया है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिके शरीर, वृक्ष, पहाड़, वनस्पति, एवं सोना, चाँदी आदि धातुएँ और घट-पटादि सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ एक पृथ्वीके ही रूपान्तर हैं, इन सबकी उत्पत्ति मिट्टीसे होती है और अन्तमें ये सब मिट्टीमें ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। विज्ञानके द्वारा विचार करके देखनेसे वर्तमान कालमें भी सब मिट्टी ही सिद्ध होते हैं। इस समग्रका नाम जैसे पृथ्वी है इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार आदि समग्रका नाम ही परमेश्वर है। जो साकार-सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले ब्रह्मको एकदेश-मात्रमें मानकर निर्गुण-निराकार और सगुण-निराकारकी निन्दा करते हैं वे ब्रह्मकी ही निन्दा करते हैं। इसी प्रकार जो निर्गुण-निराकारके उपासक निर्गुणके अतिरिक्त निराकार और साकाररूप सगुण ब्रह्मको उससे भिन्न समझकर निन्दा करते हैं वे भी उसी ब्रह्मकी निन्दा करते हैं। अतएव वे दोनों ही ब्रह्मके तत्त्वको नहीं जानते। भगवान् तो कहते हैं कि सब कुछ वासुदेव ही है 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७ । १९) भगवान्‌की शरण लेकर किसी भी रूपकी उपासना करनेवाले श्रद्धालु पुरुष उस समग्र ब्रह्मको जानकर उसे प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

> **जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।**
> **ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥**
> **साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।**
> **प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥**

(गीता ७ । २९-३०)

'जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको तथा सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं। जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझको जानते हैं वे युक्तचित्तवाले पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

रहस्य

ईश्वरका रहस्य अद्भुत और अलौकिक है। वह ईश्वर-कृपासे ही यत्किञ्चित् जाना जा सकता है। 'रहस्य' छिपे हुए तत्त्वको कहते हैं। रहस्य (मर्म) हर किसीको नहीं बतलाया जाता। कोई भी मनुष्य अपनी पूँजीका रहस्य पूछनेपर भी अपने परम विश्वासी और अन्तरङ्ग प्रेमीके सिवा और किसीको नहीं बतलाता। साधु-महात्मागण भी अपनी स्थितिका हाल बिना अधिकारीके नहीं कहते। भगवान् भी अपने अधिकारी प्रिय भक्तको ही अपना रहस्य बतलाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें जहाँ-जहाँपर ऐसा कहा है कि 'यह रहस्यका विषय है,' 'यह गोपनीय है,' 'यह गुह्यतम' या 'सर्वगुह्यतम है,' वहाँ-वहाँपर यही तत्त्व बतलाया है कि 'मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, तू मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही शरण हो' आदि। इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति अपने प्रिय प्रेमीको बतला देना ही असली रहस्यका खोल देना है। जैसे गीता अध्याय ४ श्लोक १ से १४ तकमें भगवान्‌ने यह रहस्य समझाया है कि 'मैं साक्षात् परमात्मा पृथ्वीका भार हरण करने,

साधुओंका परित्राण करने और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये लीलासे प्रकट होता हूँ।' गीता अ० १८। ६४ में 'मैं तुझे सर्वगुह्यतम रहस्य कहता हूँ' ऐसा कहकर अगले श्लोक ६५-६६ में स्पष्ट कह दिया है कि 'मैं ही ईश्वर हूँ, तू एकमात्र मेरी ही शरण आ जा।'

इसी प्रकार उत्तंक मुनिने जब भगवान् श्रीकृष्णको शाप देना चाहा तब आपने उनको अपना रहस्य बतलाकर शान्त किया। वहाँ यह कहा कि 'समय-समयपर अवताररूपसे मैं ही प्रकट होता हूँ। मैं ही साक्षात् परमात्मा इस समय मनुष्यरूपमें श्रीकृष्ण-नाम-से प्रकट हूँ। आप मुझको नहीं जानते, इसीलिये शाप देनेकी बात कहते हैं। आप मुझे शाप न दें। मुझपर आपके शापका कोई असर नहीं होगा और आप तपोभ्रष्ट हो जायँगे।' फिर उत्तंकके प्रार्थना करनेपर उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाकर आश्वासन दिया। (महाभारत अश्वमेधपर्व अ० ५३-५४)

इसी तरह अन्यान्य भक्तोंको भी भगवान्ने समय-समयपर अपना रहस्य बतलाया है। जो मनुष्य गुरु, शास्त्र, सन्त या सत्सङ्ग आदि किसी भी साधनसे ईश्वरके रहस्यको यानी छिपे हुए परम तत्त्वको समझ जाता है वह फिर एक क्षणके लिये भी ईश्वरको नहीं भूल सकता। वह नित्य-निरन्तर ईश्वरको ही भजता है। वह जान लेता है कि ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्टको छोड़कर निकृष्टको कौन बुद्धिमान् भजेगा ? एक खानि है, उसमें सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पत्थर, कोयला आदि कई चीजें हैं। जिसको जिस चीजकी इच्छा हो, वह

उससे वही चीज निकाल ले सकता है। खोदने आदिका परिश्रम एक-सा ही है और समय भी समान ही लगता है। ऐसी अवस्था-में कोई मूढ़ व्यक्ति भले ही सोनेको छोड़कर पत्थर और कोयला आदि निकालने लगे। सोनेके तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष तो एक मिनटके लिये भी दूसरी चेष्टा न करके सोना निकालनेमें ही लग जायगा। इसी प्रकार ईश्वरके तत्त्व—रहस्यको जाननेवाला पुरुष यह समझ जाता है कि ईश्वरसे बढ़कर और कोई भी वस्तु नहीं है। इसलिये वह सबसे मुँह मोड़कर केवल ईश्वरको भजनेमें ही लग जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

वास्तवमें सारा विश्व परमेश्वरका ही स्वरूप है। किन्तु इस रहस्यको लोग जानते नहीं, इसीसे संसारके विविध रूपोंको देख-देखकर सुखी-दुखी होते हैं। एक बहुरूपिया था, वह पुलिसके किसी बड़े अफसरका स्वाँग धरकर बाजारमें पहुँचा। एक दूकानदार-का माल सड़कपर पड़ा था, बहुरूपियेने वहाँ जाकर दूकानदारको धमकाना शुरू किया कि तुमने सड़क रोक रक्खी है अतएव तुमपर मुकद्दमा चलाया जायगा। दूकानदार डरकर काँपता हुआ

खुशामदें करने लगा। बहुरूपियेका स्वाँग सफल हो गया। तब उसने अपना यथार्थ परिचय देकर दूकानदारसे इनाम माँगा। बस, बहुरूपियेका परिचय मिलते ही दूकानदार निर्भय होकर हँसने लगा। उसकी सारी विकलता क्षणभरमें हँसीके रूपमें बदल गयी। बहुरूपिया अब भी अफसरके वेषमें ही है, वही रूप दूकानदारको दीख रहा है परन्तु रहस्य खुल जानेसे भावमें महान् अन्तर पड़ गया। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी योगमायासे विश्वरूप बने हुए क्षण-क्षणमें स्वाँग बदल रहे हैं। और लोग उनका रहस्य न जाननेके कारण डरते और व्याकुल होते हैं। यदि हम प्रत्येक रूपमें भगवान्‌को पहचान लें, भगवान्‌का यह रहस्य हमारे लिये खुल जाय तो फिर कोई भी भय या व्याकुलता नहीं रह सकती। जैसे बहुरूपिया अपना भेद खोल देता है, वैसे ही भगवान् भी जब दया करके अपना रहस्य खोल देते हैं, तब भक्त उसी क्षण निर्भय और सुखमय बन जाता है, क्योंकि वह फिर सर्वत्र, सब समय, केवल एक आनन्दरूप भगवान्‌को ही देखता है।

प्रभाव

सामर्थ्य, शक्तिविशेष या तेजको प्रभाव कहते हैं। ईश्वरका प्रभाव अपरिमेय है। इसीलिये कहा जाता है कि ईश्वर असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। समस्त संसारका उद्धार होना असम्भव-सा है परन्तु ईश्वर चाहें तो एक ही क्षणमें कर सकते हैं। क्योंकि वे अपरिमित प्रभावशाली और सर्वशक्तिमान् हैं। उनके पूर्ण प्रभाव-को देव, दानव और महर्षिगण भी नहीं जानते। वे स्वयं ही

अपने आपको जानते हैं। एक क्षणमें वे समस्त संसारका सृजन और संहार कर सकते हैं। श्रुति, स्मृति, गीता आदि ग्रन्थोंमें उनके प्रभावका वर्णन भरा पड़ा है। सारी शक्तियाँ उन्हींकी शक्तिका एक अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जो मूढ़तासे किसी भी शक्तिविशेषको अपनी मान बैठता है, वह गिर जाता है। एक वार इन्द्र, अग्नि और वायु देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्तकर अपनी शक्तिका गर्व किया था, इसीलिये उन्हें यक्षरूप ब्रह्मके सामने नीचा देखना पड़ा। यह कथा केन उपनिषद्में है।

भगवान्का वास्तविक प्रभाव भगवान्की शरण लेनेपर भगवान्की कृपासे ही जाना जा सकता है। अतएव हम सबको भगवान्की शरण होना चाहिये।

गुण

परमेश्वर गुणातीत हैं और सर्व सद्गुणोंसे पूर्ण हैं। उनके गुण अनन्त हैं, असीम हैं, शेष-शारदा आदि भी उनके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य क्या वर्णन करे। उनके गुणोंका वाणीसे वर्णन करना वैसा ही है जैसे अनन्त धनराशिके स्वामीको लखपती कहना अथवा सूर्यके साथ जुगुनूके समुदायकी उपमा देना। उस अनन्त गुणसागर प्रभुके एक गुणका भी भलीभाँति समझना और समझाना अत्यन्त ही कठिन है, फिर सब गुणोंका वर्णन तो हो ही कैसे सकता है? तथापि शास्त्रोंके आधारपर कुछ लिखा जाता है।

भगवान् परम प्रेममय हैं। सारे संसारका प्रेम एक जगह इकट्ठा किया जाय तो वह भी प्रेममय प्रभुके प्रेमसागरकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो।

भगवान्‌का प्रकाश अलौकिक है। करोड़ों सूर्योंके इकट्ठे होनेपर भी शायद ही उनके प्रकाशके सदृश प्रकाश हो। समस्त संसारको एक सूर्य प्रकाशित करता है। ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त कोटि सूर्योंको प्रकाश देनेवाले परमेश्वरके प्रकाशको समझानेका प्रयास करना खद्योतमण्डलीके प्रकाशसे सूर्यके प्रकाशको समझानेकी चेष्टाके समान ही है।

सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानकी तो बात ही विलक्षण है। वह ज्ञानरूप ही है। सारे संसारके जीवोंका ज्ञान एकत्र करनेपर

भी उसे परमात्माके ज्ञानके एक क्षुद्र परमाणुका आभास बतलाना भी अत्युक्ति न होगा।

भगवान्‌की उदारताका तो कहना ही क्या है। विष देनेवाली पूतनाको भी जिसने परमगति दी उसकी उदारताका अन्दाजा कैसे लगाया जाय?

अभय तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। जिस प्रभुके रहस्य और प्रभावको जान लेनेमात्रसे अथवा जिसके नाम-स्मरणसे ही मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। उस अभयरूप भगवान्‌के अभय-गुणको कैसे समझाया जाय?

दयाके तो आप सागर ही हैं। पापी-से-पापी जीव भी यदि उनके शरण चला जाता है तो उसे सदाके लिये पापमुक्त कर अपना अभयपद दे देते हैं। जिसको कोई नहीं अपनाता, उसे भी शरणागत होनेपर प्रभु अपना लेते हैं।

भगवान्‌की पवित्रताका अनुमान कौन करे? जिसके नाम-जप, गुण-गान और स्वरूप-चिन्तनसे महापापी मनुष्य भी परम पवित्र बन जाता है। इसीलिये पितामह भीष्मने 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' कहा था। उस भगवान्‌की पवित्रताका स्वरूप कैसे बतलाया जाय?

भगवान् महान् ब्रह्मचारी हैं। कामदेव तो उनके चिन्तन करनेवाले भक्तोंके पास भी नहीं आ सकता। भगवान्‌ने श्रीकृष्ण-

रूपमें प्रकट होकर गोप-बालाओंके साथ निर्दोष काम-गन्ध-शून्य रासक्रीड़ा करते हुए गोप-बालाओंके द्वारा कामका मद चूर्ण करवाया था। जिसके ध्यान और चिन्तनसे ही मनुष्य ब्रह्मचारी बन जाता है, उस महान् ब्रह्मचारीके ब्रह्मचर्यकी महिमा कौन गा सकता है?

भगवान् क्षमाकी तो मूर्ति ही हैं। बिना ही कारण भृगुजीने आपके वक्षःस्थलपर लात मार दी, उसकी ओर कुछ भी ध्यान न देते हुए आपने उनके पैर पलोटते हुए उलटे यह कहा कि 'मेरी छाती कठोर है, कहीं आपको चोट तो नहीं लग गयी' और उस लातके चिह्नको सदाके लिये भूषणरूपसे आपने धारण कर लिया। भरी सभामें गाली देनेवाले शिशुपालके सैकड़ों अपराधोंको क्षमा करके उसे आपने मुक्ति दे दी।

अद्वेष्टा तो आपका स्वभाव ही है। द्वेषकी आपमें गन्ध ही नहीं है। द्वेष करनेवालोंको भी आप दण्ड देकर उद्धार करते हैं। भगवान्‌की तो बात ही क्या है। भगवान्‌के भक्तोंका भी स्वाभाविक धर्म अपकार करनेवालोंका उपकार करना होता है।

सत्य तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। समस्त संसारमें जो सत्ता प्रतीत होती है उसके वही अधिष्ठान हैं। सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी आदि सब जिस सत्यके आधारपर स्थित हैं, वह सत्य उन भगवान्‌का ही स्वरूप है। समस्त संसार उन सत्यस्वरूप परमात्माके सत्यके आधारपर ही स्थित है।

भगवान् परम वैराग्यवान् हैं। गुणमय समस्त संसारको धारण करके भी आप गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। सारा संसार जिनका कुटुम्ब है ऐसे सबका भरण-पोषण करनेवाले बहुकुटुम्बी होनेपर भी आप किसीमें आसक्त नहीं हैं। सदा सबसे निर्लेप रहते हैं।

भगवान् बड़े अमानी हैं। सम्पूर्ण लोकोंके परम माननीय होनेपर भी स्वयं सर्वथा अमानी हैं और सबको मान देते हैं। इसीसे आपके नाम हैं—'अमानी मानदः।'

दानशीलता तो आपकी अनोखी ही है। कल्पवृक्षसे भी उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। क्योंकि कल्पवृक्ष तो मुँहमाँगा बुरा-भला दे देता है, वह हिताहित नहीं देखता। परन्तु आप तो ऐसे हैं कि बुरी चीज तो माँगनेपर भी नहीं देते। नारदजीको विवाह नहीं करने दिया। और उचित समझनेपर, थोड़ा माँगनेवालोंको भी बहुत दे देते हैं। जैसे ध्रुवको राज्य माँगनेपर आपने मुक्ति भी दे दी।

शान्ति और आनन्द तो भगवान्‌का स्वरूप ही है, जिसकी शरण होनेसे मनुष्य परमशान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है, उसके शान्ति और आनन्दकी उपमा किसके साथ दी जाय ?

भगवान्‌के अनन्त और अपरिमेय गुण हैं, श्रीपुष्पदन्ताचार्य कहते हैं—

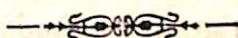
असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

'हे परमेश्वर ! यदि समुद्रकी दावात बनाकर उसमें कज्जल-गिरिकी स्याही बनायी जाय और कल्पवृक्षकी शाखाको कलम बनाकर उससे पृथ्वीरूपी कागजपर स्वयं सरस्वतीदेवी सदा-सर्वदा आपके गुणोंको लिखती रहें तब भी आपके गुणोंका पार नहीं पा सकतीं।'

उपर्युक्त सब बातोंको समझकर मनुष्यको उचित है कि नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे श्रीपरमात्माकी शरण होनेमें ही अपना अमूल्य समय लगावे । जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बितावे । बस, यही समयका सदुपयोग है ।



विषयसुखकी असारता



यह बात प्रायः देखनेमें आती है कि भगवद्भजनकी आवश्यकता-को समझ लेनेपर भी उस ओर वैसी प्रगति नहीं होती—सब बातों-को जान-बूझकर भी चित्त प्रायः भगवान्‌से दूर ही रहता है—इसका क्या कारण है ? सो विचारना चाहिये । मेरे विचारसे इसमें मुख्य हेतु श्रद्धा-विश्वासकी कमी है, क्योंकि पूर्वसञ्चित पाप और अज्ञानके कारण लोग विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं—प्रभुमें पूर्ण श्रद्धा और उनकी दयालुतामें पूरा विश्वास नहीं रखते । इसीलिये लोग प्रायः उनसे दूर ही रहते हैं । अज्ञानवश ही विषयी पुरुषोंको क्षण-क्षणमें बदलनेवाले, देश-कालसे परिच्छिन्न, अनित्य विनाशी और दुःखरूप तथा दुःखके हेतु इन विषयोंमें सुख प्रतीत होता है, इसी-से वे इनमें आसक्त रहते हैं । परन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेते हैं वे कदापि इनमें आसक्त नहीं होते । इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको भ्रमसे सुखरूप भासते हैं, परन्तु ये निःसन्देह दुःखके ही हेतु और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसीलिये हे कौन्तेय ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष इनमें नहीं रमता।'

अतएव विषयोंके स्वरूपको समझकर इनकी आसक्तिसे छूटनेके लिये हमें यह विचार करना चाहिये कि जिस सुखसे आकृष्ट होकर लोग विषयोंमें फँसते हैं, क्या वस्तुतः वह विषयोंमें है? यदि विषय ही सुखस्वरूप होते तो उनकी सन्निधिमें सर्वदा ही सुख होना चाहिये था। परन्तु यह बात देखी नहीं जाती। उनमें सुखकी तो केवल क्षणिक प्रतीतिमात्र ही होती है वस्तुतः तो वे क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं। रसनेन्द्रियके विषयको ही लीजिये। हमें लड्डू बहुत प्रिय है। परन्तु उसकी प्रियता जैसी भूखके समय जान पड़ती है वैसी तृप्ति हो जानेपर नहीं रहती; यही नहीं, पूर्ण तृप्ति हो जानेपर तो वह हमें अरुचिकर हो जाता है और उसे खिलानेका आग्रह भी बुरा मालूम होने लगता है। इसी प्रकार भोगान्तर-क्षणमें स्त्री आदि जो अन्य इन्द्रियोंके विषय हैं वे भी नीरस हो जाते हैं।

अतः अब यह विचारना चाहिये कि वस्तुतः सुख कहाँ है? विचारपूर्वक देखनेपर यही निश्चय होता है कि सम्पूर्ण सुखका भण्डार एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है; जहाँ-जहाँ भी सुखकी अनुभूति होती है उसीकी सत्तासे होती है—सम्पूर्ण प्रिय पदार्थोंमें उसीका सुख प्रतिबिम्बित हो रहा है।

एक मनुष्य समुद्रतटपर खड़ा हुआ है। उसके सामने अपार और अगाध जलनिधि उत्ताल तरङ्गोंमें उछल-कूद मचा रहा है। इतनेमें ही उसकी दृष्टि समुद्रतलमें टिमटिमाती हुई एक मणिपर जाती है। जल किनारेपर भी बहुत गम्भीर है, परन्तु मणि-प्राप्तिका प्रलोभन उसे अधीर कर देता है। वह कपड़े उतारकर सागरमें

डुबकी लगाता है; परन्तु बार-बार बहुत गहरे पानीमें जानेपर भी मणि उसके हाथ नहीं आती; वह विफलमनोरथ ही रहता है। परन्तु मणिकी दिपती हुई चमचमाहट उसे बेचैन कर रही है; इसलिये वह बहुत क्लान्त और दुखी हो जानेपर भी बार-बार डुबकी लगानेसे नहीं हटता। इस प्रकार उसे डूबते-उतराते बहुत समय हो गया।

इतनेमें वहाँ कोई अनुभवी महात्मा स्नान करनेके लिये आते हैं। वे देखते हैं कि एक मनुष्य बार-बार डुबकी लगाता है और हताश चित्तसे निकल आता है। उसकी आकृतिसे वह बहुत ही उद्विग्न और दुखी जान पड़ता है, मानो किसी वस्तुको पानेके लिये अत्यन्त व्यग्र है और वह उसे मिल नहीं रही है। उन्होंने उसके समीप जाकर पूछा—'क्यों भाई, तुम किस लिये इतने व्यग्र हो रहे हो और क्यों बार-बार समुद्रमें डुबकी लगाते हो?' किन्तु वह मनुष्य अपना भेद खोलना नहीं चाहता, क्योंकि उसे यह आशङ्का है कि कहीं बाबाजी ही उस मणिको न निकाल ले जायँ। अतः वह बात-को टाल देता है।

किन्तु इतनेहीमें महात्माजीकी दृष्टि भी उस मणिपर पड़ जाती है। उसे देखकर वे उसकी व्यग्रताका मर्म समझ गये, और उससे बोले—'क्यों भाई! तू इस मणिको लेनेके लिये ही बारम्बार डुबकी लगाता है न?' अब भेद खुला देखकर उसे भी स्वीकार करना ही पड़ा। बाबाजीने कहा तुझे इस प्रकार डुबकी लगाते कितना समय हो गया?

उसने कहा—बहुत समय हो गया ।

बाबाजी—तुमने कितनी डुबकियाँ लगायी होंगी ?

मनुष्य—कुछ गिनती ही नहीं, मैं तो आया तबसे गोते ही लगा रहा हूँ ।

बाबाजी—कुछ हाथ भी लगा ?

मनुष्य—कुछ नहीं ।

बाबाजी—तो फिर क्यों डुबकी लगा रहा है ?

मनुष्य—इसीलिये कि डुबकी लगाते-लगाते कभी तो मणि मिल ही जायगी ।

बाबाजी—भाई, इसी प्रकार तू सारी आयु भी गोते लगाता रहे तो भी तुझे यह मणि नहीं मिल सकती ।

मनुष्य—क्यों ?

बाबाजी—तुझे जो मणि दिखायी दे रही है वह वस्तुतः वहाँ है ही नहीं ।

मनुष्य—यह आप कैसी बात कह रहे हैं, वह तो प्रत्यक्ष दिखायी दे रही है ।

बाबाजी—(हँसकर) अच्छा कुछ देर ठहर, तुझे अभी सारा भेद ज्ञात हो जायगा । इसपर वह मनुष्य रुक गया । थोड़ी देरमें जब जल ठहर गया तो बाबाजीने कहा—क्यों भाई, जहाँ तुझे मणि दिखायी देती है वहाँ कुछ और भी है क्या ?

मनुष्य—हाँ, एक वृक्ष तो दिखायी देता है ।

बाबाजी--तो क्या वस्तुतः वह वहाँ है। और यदि है तो इतनी बार डुबकी लगानेपर क्या तेरे हाथ उसकी कोई डाली भी आयी ?

मनुष्य—नहीं, डाली या पत्ता आदि तो कुछ भी हाथ नहीं लगा, परन्तु यदि वह वहाँ नहीं है तो फिर कहाँ है ?

बाबाजी—अरे, यदि वहाँ वृक्ष होता तो तेरे हाथ अवश्य उसका कोई पत्ता तो लगता ही। वस्तुतः वहाँ कोई वृक्ष है नहीं। देख, यह किनारेका वृक्ष। यही जलमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसा कहकर बाबाजीने किनारेके उस वृक्षकी एक टहनी हिलायी, उसके हिलनेसे जलमें प्रतिबिम्बित वृक्षकी टहनी भी हिलती देखकर वह मनुष्य सहम गया और उसने महात्माजीसे कहा—आपका कथन ठीक है, वस्तुतः यह इस वृक्षकी ही परछाईं है। कृपया अब इस मणिके मिलनेका उपाय भी बतलाइये।

बाबाजी—यदि तुझे यह मणि प्राप्त करनी है तो तू इस वृक्षपर चढ़कर देख। प्रतिबिम्बमें जहाँ मणिकी प्रतीति होती है उसीकी बिम्बभूत डालीपर तुझे यह रत्न मिल सकता है।

तब उस मनुष्यने वृक्षपर चढ़कर देखा तो उसे वह अनुपम लाल उसकी सबसे ऊँची टहनीपर पड़ा मिला। वह लालको पाकर निहाल हो गया और महात्माजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने लगा।

यहाँ संसार ही समुद्र है, विषय ही उसमें जल है, विषय-सुख ही मणिकी परछाईं है, जीव ही डुबकी लगानेवाला मनुष्य है,

बार-बार जन्मना-मरना ही डुबकी लगाना है, सद्गुरु ही महात्माजी हैं, दृढ़ वैराग्य ही किनारेका वृक्ष है, साधन उस वृक्षपर चढ़ना है, और परमानन्दरूप परमात्माका स्वरूप ही उसपर स्थित सच्ची मणि है।

इस प्रकार जलमें मणिकी परछाईंकी भाँति तुम्हें यहाँ विषयोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है वह उस विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही प्रतिबिम्ब है। यदि उसे पानेकी इच्छा है तो इस संसार-समुद्रमें प्रतीत होनेवाले विषयोंकी आपातरमणीयतासे आकृष्ट न होकर किसी सद्गुरुके बतलाये हुए दृढ़ वैराग्यरूप वृक्षपर चढ़कर उसे ढूँढ़ो। तभी तुम्हें उस विशुद्ध परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

एक मनुष्य किसी कुटियामें बैठा हुआ है। प्रातःकालका समय है। उस कमरेके बाहर वह देखता है कि प्रातःकालीन मन्द-मन्द घाम फैल गया है। इससे वह निश्चय कर लेता है कि सूर्योदय हो गया। यद्यपि इस समय सूर्य उसके सामने नहीं है, तो भी उस घामसे ही उसकी सत्ताका निश्चय हो जानेमें कोई त्रुटि नहीं रहती। प्रकाश तो उसकी कुटियामें भी है परन्तु वह सूर्यसे सीधा न आकर उस घामसे ही प्रतिफलित हो रहा है। इस प्रकार सूर्य न दीखनेपर भी वह उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। यदि किसी प्रकार उस कुटियाके छप्परको हटा दिया जाय तो वह वहाँ बैठे-बैठे ही सूर्यका दर्शन कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा भी अविद्याके कारण हमसे छिपा हुआ है। उस परमानन्दका प्रकाशरूप जो सात्त्विक आनन्द है, उसीकी आभा इन

विषयोंमें पड़ी हुई है और उसीके कारण ये सुखमय जान पड़ते हैं। यदि किसी प्रकार वह अविद्याका पर्दा हटा दिया जाय तो हमें उस आनन्दघनका स्फुट साक्षात्कार हो सकता है। परन्तु इस विषयानन्दसे भी तो उस परमानन्दघनका निश्चय हो जानेमें कोई बाधा नहीं रहनी चाहिये। जब हम स्पष्ट ही सर्वत्र अल्प सुखका अनुभव करते हैं, तो उसके अधिष्ठानभूत पूर्णानन्दघन परमात्माकी सत्ता निश्चय ही सिद्ध होती है। इसमें अविश्वास या अश्रद्धाके लिये तनिक भी अवकाश नहीं है।

परन्तु इस विषयानन्दकी अपेक्षा भगवान्में कितना अधिक आनन्द है, इसका परिचय उसी प्रकार नहीं कराया जा सकता, जिस प्रकार कि खद्योतोंके समूहसे सूर्यका। मानवबुद्धि उसका आकलन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। भगवदानन्दकी बात तो दूर रही, विषयासक्त पुरुषोंके लिये तो शुद्ध सात्त्विक आनन्द भी अत्यन्त दुर्लभ है। प्रभुके परमानन्दको समझनेके लिये एक दृष्टान्त-पर ध्यान देना चाहिये। एक दर्पण है। उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है और उस सूर्यप्रतिबिम्बयुक्त दर्पणका चिलका दीवारपर पड़ रहा है, तथा उस चिलकेकी आभासे ही वह दीवार भी प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार दीवारपर जो सामान्य प्रकाश है वह सूर्यप्रकाशके प्रतिबिम्बके प्रकाशका भी आभास है। इसी प्रकार विषयानन्द भी भगवान्के परमानन्दके प्रतिबिम्बके प्रकाशकी केवल आभामात्र ही है। विषयानन्द दीवारपर पड़े हुए सामान्य प्रकाशके समान है, दीवारपर पड़ा हुआ चिलका सात्त्विक आनन्द है। दर्पणप्रतिबिम्बित सूर्य अथवा घाम मानो सात्त्विक आनन्दका पुञ्ज

है और भगवान् साक्षात् सूर्यदेव हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषयानन्दकी अपेक्षा प्रभुका परमानन्द असंख्य कोटि गुना अधिक बतलाया जाय तो भी उसकी उपमा नहीं बनती।

थोड़ी-सी विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो विषयोंकी असारता, अस्थिरता और तुच्छता स्पष्ट प्रतीत होती है। देखिये, आकाशमें उड़नेवाला वायुयान जब पृथिवीपर होता है तो पचीस-तीस फुट लम्बा होता है। आकाशमें उड़ते समय वह प्रायः चार-पाँच फुटका दिखायी देता है, और भी ऊँचा चढ़ जानेपर केवल एक पक्षीके समान दिखायी देता है, यदि और दूर चला जाय तो दिखलायी भी नहीं देगा। इसी प्रकार यह देखा जाता है कि संसारमें प्रत्येक वस्तु अवस्थाभेदसे भिन्न-भिन्न रूपसे दिखायी देती है, और अवस्था क्षणिक है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक पदार्थका भी क्षय हो रहा है। अभी एक सुगन्धित पुष्प तोड़ा गया है। वह घ्राणेन्द्रियको बड़ा ही प्रिय जान पड़ता है; परन्तु दो-चार बार सूँघनेपर वह उत्तरोत्तर अप्रिय होता जाता है। फिर वह सूखकर किसी कामका नहीं रह जाता और अन्तमें नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जब कि देश और कालके भेदसे प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है, और प्रतिपल क्षय होता है तो उसे सत्य कैसे माना जा सकता है? सत्य तो वही वस्तु मानी जा सकती है जो सदा-सर्वदा एकरस रहे और जिसमें कभी कोई विकार-व्यभिचार न होता हो। स्थानभेद अथवा कालभेदके कारण कुछ-की-कुछ प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ सत्य नहीं मानी जा सकतीं। जो सत्य है उसका कभी

अभाव नहीं होता और जिसका अभाव या क्षय होता है, वह सत्य नहीं हो सकता। भगवान्‌ने भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

अर्थात् 'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है, और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी पुरुषोंद्वारा इन दोनोंका ही तत्त्व देखा गया है।'

किसी न्यायाधीशके यहाँ एक अभियोग उपस्थित होता है। उसकी पुष्टिके लिये वादी पाँच गवाह उपस्थित करता है। उसका दावा है कि अमुक व्यक्तिको मैंने दस हजार रुपये दिये थे, जिन्हें वह अन्यायपूर्वक दबाना चाहता है। न्यायाधीश पूछता है—इसमें कोई गवाह भी है?

वादी—जी हाँ, अमुक-अमुक पाँच व्यक्ति गवाह हैं, मैंने उनकी उपस्थितिमें उसे दस सहस्र रुपये दिये थे। इनमेंसे एक तो मेरे गिने रुपयोंको दुबारा गिन-गिनकर उसे दे रहा था।

न्यायाधीश—तुमने रुपये दिये थे या नोट?

वादी—रुपये।

न्यायाधीश—कहाँपर दिये थे?

वादी—अमरूदों और फूलोंके बगीचेमें।

न्यायाधीश—किस समय दिये थे?

वादी—दोपहरके समय।

इसके पश्चात् उसे हटाकर न्यायाधीश एक-एक गवाहको बुलाकर पूछने लगा। उसने पहले गवाहसे पूछा—क्या इस मनुष्यने तुम्हारे सामने अमुक मनुष्यको कुछ रुपये दिये थे ?

पहला गवाह—जी हाँ, आठ हजार रुपये दिये थे ।

न्यायाधीश—उस समय और भी कोई था ?

पहला गवाह—जी हाँ, तीन आदमी और थे ।

न्यायाधीश—वह दिनका कौन समय था ?

पहला गवाह—प्रातःकाल था ।

न्यायाधीश—ठीक है, अच्छा जाओ ।

फिर दूसरे गवाहको बुलाकर पूछा—इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे ?

दूसरा गवाह—दस हजार ।

न्यायाधीश—क्या तुमने स्वयं देखा था ?

दूसरा गवाह—नहीं, मैंने सुना है ।

न्यायाधीश—वह दिनका कौन-सा समय था ।

दूसरा गवाह—सायंकालका समय सुना गया था ।

न्यायाधीश—ठीक है, अच्छा जाओ ।

फिर तीसरे गवाहसे पूछा ।

न्यायाधीश—इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे ?

तीसरा गवाह—बारह हजार ।

न्यायाधीश—तुमने स्वयं देखा था ?

तीसरा गवाह—देखा क्या ! मैंने दुबारा गिन-गिनकर दिये थे।

न्यायाधीश—वह कौन-सा समय था ?

तीसरा गवाह—रातको भोजनके बाद ।

न्यायाधीश—अच्छा जाओ ।

इसी प्रकार चौथे और पाँचवें गवाहको भी बुलाकर पूछा गया। एकने कहा—मैं बगीचेमें बड़े तड़के फूल लेने जाया करता हूँ, मैंने रुपये देते नहीं देखा। दूसरेने कहा—मैं तो वहाँ जाकर अमरूद खाया करता हूँ, रुपयोंकी बात मैं नहीं जानता। इस तरह सबकी अव्यवस्थित और विषम बातें सुनकर न्यायाधीशने अभियोगको मिथ्या ठहराकर खारिज कर दिया। जब वादीने आकर अनुनय-विनय की और अभियोग खारिज करनेका कारण पूछा तो न्यायाधीशने कहा—तुम्हारा एक गवाह कहता है कि आठ हजार रुपये दिये गये थे।

वादी—जी सरकार, आठ हजार ही थे, मैंने भूलसे दस हजारकी नालिश की थी।

न्यायाधीश—दूसरा बारह हजार कहता है।

वादी—हुजूर ! उसे याद नहीं रहा होगा।

न्यायाधीश—गवाह कहते हैं रुपये नहीं नोट दिये गये थे।

वादी—जी हाँ, नोट ही दिये गये थे।

न्यायाधीश—गवाह कहता है, उस समय हम दो ही व्यक्ति थे।

वादी—जी ।

न्यायाधीश—वह प्रातःकालका समय बतलाया जाता है।

वादी-जी हुजूर, प्रातःकाल ही था। मैं कहनेमें भूल गया।

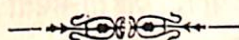
इस प्रकार अपनी बातोंका ही खण्डन करते देख न्यायाधीश-को निश्चय हो गया कि यह आदमी झूठा है और इसका अभियोग एक जाल ही है। इसी तरह इन विषयोंको ग्रहण करनेवाली—इनकी साक्षी हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमेंसे किसी भी एकका अनुभव दूसरीसे नहीं मिलता। कर्ण केवल शब्द ही ग्रहण करता है, घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धका साक्षी है, रसना केवल रस बतला सकती है, त्वचा केवल स्पर्श ही जान सकती है और नेत्रोंसे बस रूपका ही ज्ञान होता है। इस प्रकार जब सभी गवाहोंका अनुभव एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है, तो उनमेंसे किसीकी भी बातको प्रामाणिक कैसे मान सकते हैं ?

इस तरह जो विषय न सबको एक-से दीखते हैं, न सबको उनमें एक-सा सुख-दुःख होता है, जो पल-पलमें बदलते रहते हैं, अभी हैं, दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाते हैं, ऐसे विषयोंको सत् मानकर उनमें आसक्त होना मूर्खताके सिवा और क्या है ?

अतएव विषयोंकी असारता, अस्थिरता और दुःखरूपतासे उनकी असत्ताका निश्चयकर एकमात्र परमात्माको ही सर्वाधिष्ठान, पूर्णानन्दघन और सत्पदार्थ समझकर श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक निरन्तर उन्हींका भजन-चिन्तन करना चाहिये, उन्हींके भक्तोंका सहवास करना चाहिये और एकमात्र उन्हींकी कृपामें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इससे अविद्या, आसक्ति आदि सब प्रकारके क्लेशोंका एवं पाप और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।



कर्मयोगका रहस्य



कर्मयोगका रहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो श्रीपरमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं जिन्होंने कर्मयोगद्वारा परमेश्वर (परमात्मा) को प्राप्त कर लिया है। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इस रहस्यका व्यक्त करना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि कर्मयोगके रहस्यको वास्तवमें मैं अच्छी प्रकार नहीं जानता। इसके अतिरिक्त यत्किञ्चित्—जितना कुछ जानता हूँ उतना कह नहीं सकता और जितना कहता हूँ उतना स्वयं काममें नहीं ला सकता, तथापि अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कर्मयोगके रहस्यका कुछ अंश प्रश्नोत्तरके रूपमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करता हूँ। श्रीभगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
(गीता २ । ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है (और) उलटा फलरूप दोष (भी) नहीं होता है (इसलिये) इस (निष्कामकर्मयोगरूप) धर्मका थोड़ा भी (साधन) जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है ।'

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है ? क्या एक बार प्रारम्भ होनेपर यह चालू ही रहता है, या जितना बन गया, उसका नाश नहीं होता ?

उत्तर—पूर्वसञ्चित पाप, अहंता-ममता और आसक्ति आदि अवगुणोंके कारण तथा विषय-भोगोंका एवं प्रमादी विषयी पुरुषोंका संग होनेसे मार्गमें रुकावट तो हो जाती है किन्तु निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका जितना पालन हो जाता है उसका नाश नहीं होता । क्योंकि फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वभावसे किये हुए साधनके नाश होनेका कोई भी कारण नहीं है । फलकी इच्छासे किया हुआ कर्म ही फलको देकर समाप्त होता है ।

प्र०—प्रत्यवाय यानी उलटे फलरूप दोषका भागी नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है ?

उ०—मनुष्य जैसे अपना उपकार करनेवालेकी सेवा न करनेसे दोषका भागी होता है तथा जैसे देव, पितर, राजा,

मनुष्यादिकी सेवा किसी कारणवश त्रुटि हो जानेपर उनके रुष्ट होनेसे उसका अनिष्ट भी हो सकता है किन्तु निष्काम कर्मयोगके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका उलटा फल यानी कर्ताका अनिष्ट नहीं होता तथा नहीं पालन करनेसे वह दोषका भागी भी नहीं होता।

प्रश्न—कोई-कोई प्रत्यवाय शब्दका विघ्न अर्थ करते हैं, क्या यह भी बन सकता है ?

उत्तर—'विघ्न' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। निष्काम कर्मयोग-रूप धर्मके पालनमें विघ्न-बाधा तो आ सकती है, किन्तु उसका परिणाम बुरा नहीं होता। अच्छा ही होता है।

(गीता ६। ४०—४२)

प्र०—यहाँ 'अपि' शब्द किस बातका द्योतक है ?

उ०—जब कि इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन भी महान् भयसे उद्धार करनेवाला है तब इसका पूर्ण साधन महान् भयसे मुक्त कर देता है, इसमें तो कहना ही क्या है।

प्र०—इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन महान् भयसे कैसे उद्धार करता है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन संस्कार-के बलसे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर अन्तमें साधकको मुक्त कर देता है।

प्र०—जब कि यह निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन वृद्धिको प्राप्त होकर ही महान् भयसे उद्धार करता है तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा ?

उ०—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतः वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है यही इसका महत्त्व है।

प्र०—जो लोग धार्मिक संस्थाओंमें स्वार्थ त्यागकर बिना वेतन लिये या स्वल्प वेतन लेकर तन-मनसे काम करनेवाले हैं, उनका कर्म स्वार्थरहित होनेके कारण उसे तो निष्काम कर्मयोग ही मानना चाहिये, किन्तु निष्काम कर्मयोगके पालन करनेसे जितना लाभ बतलाया जाता है उतना लाभ देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगसे जितना लाभ होना चाहिये उतना लाभ अपने साधनसे होता नजर नहीं आता, इस प्रकार वे सेवा करनेवाले भाई भी कहते हैं; अतः सम्भव है कि निष्काम कर्मयोगके रहस्यको न जाननेके कारण उनमें वास्तविक त्यागकी कमी है, इसीलिये वे पूरा लाभ नहीं उठा सकते, नहीं तो उन लोगोंको निष्काम कर्मयोगके साधनका जितना लाभ गीतादि शास्त्रोंमें बतलाया है, उसके अनुसार लाभ उन्हें अवश्यमेव मिलता। केवल कञ्चन, कामिनीके बाहरी त्यागसे ही मनुष्य सर्वत्यागी नहीं

होता। वास्तवमें कञ्चन-कामिनीका बाहरी त्याग निष्काम कर्म-योगके साधनमें उतना आवश्यक भी नहीं है, उसमें तो भावकी ही प्रधानता है। अतः इसमें स्त्री, पुत्र और धनादिसे मिलनेवाले विषयभोगरूप सुखत्यागके साथ-साथ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं राग, द्वेष, अहंता, ममता आदिके त्यागकी भी बड़ी आवश्यकता है, जबतक इन सबका त्याग नहीं होता तबतक साधकको पूरा लाभ नहीं मिल सकता।

प्र०—निष्काम कर्मयोगके अनुसार क्या इन लोगोंका थोड़ा भी साधन नहीं होता?

उ०—जो जितना त्याग करता है उतने अंशमें उसका साधन अवश्य होता है तथा लाभ भी उसके अनुसार उसे अवश्य ही मिलना चाहिये।

प्र०—जब कि कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे तार देता है तो फिर अधिक न भी हो तो क्या आपत्ति है? क्योंकि उद्धार तो उसका हो ही जायगा।

उ०—उद्धार तो होगा किन्तु समयका नियम नहीं। न मालूम इस जन्ममें हो या जन्मान्तरमें, क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर ही उद्धार करेगा। अतएव साधनकी कमीको मिटानेके लिये शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्य-को तो तत्पर होकर ही प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

प्र०—कर्मयोगके थोड़े साधनसे यहाँ क्या अभिप्राय है?

उ०—प्रथम तो कर्मयोगका स्वरूप समझना चाहिये । शास्त्र-विहित उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थके सर्वथा त्यागपूर्वक समत्व-भावका यानी निष्कामभावका नाम योग है । यह निष्कामभाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है । इसलिये जिस कर्ममें निष्कामभाव है उसीकी 'कर्मयोग' संज्ञा है । जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंमें निष्कामभाव नहीं है उनकी 'कर्म' संज्ञा है किन्तु 'कर्मयोग' नहीं । इसलिये सकामभावसे आजीवन किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे अनेकों कर्म भी क्षणभङ्गुर फल देनेवाले होनेके कारण महत्त्वके नहीं हैं, परन्तु निष्कामभावसे अल्प मात्रामें किये हुए शास्त्रविहित कृषि, वाणिज्य, नौकरी और शिल्पक्रिया आदि साधारण कर्म भी परम कल्याण-दायक होनेके कारण महान् हैं । अतएव जिसका नाम निष्काम कर्मयोग है उसका थोड़ा भी पालन यानी अल्प मात्रामें किया हुआ भी वह साधन क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर महान् भयसे मुक्त कर देता है किन्तु सकामभावसे किये हुए शास्त्रविहित बहुत-से कर्म भी जन्म-मरणरूप महान् भयसे मुक्त नहीं कर सकते ।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाइये ।

उ०—शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धिसे केवल भगवत्-अर्थ या भगवत्-अर्पण कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है । इसीको समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म इत्यादि नामोंसे कहा है ।

प्र०—कर्मोंमें फलके त्यागका क्या स्वरूप है ?

उ०—स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि सांसारिक सुखदायक सम्पूर्ण पदार्थोंकी इच्छा या कामनाका सर्वथा त्याग ही कर्मोंके फलका त्याग है ।

प्र०—आसक्तिका त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—मन और इन्द्रियोंके अनुकूल सांसारिक सुखदायक पदार्थों और कर्मोंमें चित्तको आकर्षण करनेवाली जो स्नेहरूपा वृत्ति है; 'राग', 'रस', 'सङ्ग' आदि जिसके नाम हैं उसके सर्वथा त्यागका नाम आसक्तिका त्याग है ।

प्र०—भगवत्-आज्ञासे यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उ०—श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र तथा महापुरुषोंकी आज्ञा भगवत्-आज्ञा है ।

प्र०—समत्वबुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिसे सदा-सर्वदा सम रहना समत्वबुद्धि है ।

प्र०—भगवत्-अर्थ और भगवत्-अर्पण कर्ममें क्या भेद है ?

उ०—फलमें कोई भेद नहीं । फल तो सबका ही परम श्रेय है । यानी परमेश्वरकी प्राप्ति है, साधनकी प्रणालीमें कुछ भेद है ।

(क) भगवत्-अर्थ कर्म

स्वयं भगवत्की पूजा-सेवारूप कर्मोंको या भगवत्-आज्ञानुसार

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको भगवत्-प्रेम, प्रसन्नता या प्राप्तिके लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान्‌की आज्ञापालनके लिये करना यानी कर्म करनेके पूर्व ही इन सब उद्देश्योंको या इनमेंसे किसी भी उद्देश्यको रखकर कर्मोंका करना भगवत्-अर्थ कर्म है।

(गीता १२ । १०)

(ख) भगवत्-अर्पण कर्म

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको तथा मन, वाणी, शरीरसहित अपने-आपको प्रभुकी वस्तु समझकर प्रभुके समर्पण कर देना यानी कर्मोंके करनेमें अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के परतन्त्र समझकर कठपुतलीकी भाँति स्वामीके हाथमें सौंप देना। कठपुतलियोंका तो जड़ होनेके कारण स्वयं नटके अधीन होकर रहना नहीं है, नट ही उनको अपने अधीन रखता है, किन्तु इसका तो स्वयं स्वामीके अधीन होकर रहना है इसलिये इसमें यह और विशेषता है। इसके सिवा पद-पदपर स्वामीके स्वरूप और दयाका दर्शन करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होते रहना और सर्वस्व स्वामीका ही समझते हुए अभिमानसे रहित रहकर निमित्तमात्र बनकर प्रभुकी आज्ञानुसार कर्मोंका करना सर्वोत्तम भगवत्-अर्पण कर्म है।

(गीता ९ । २७-२८)

प्र०—क्या निष्काम कर्मयोगका यह साधन कष्टसाध्य है ?

उ०—वास्तवमें कष्टसाध्य नहीं है। हाँ, जो कष्टसाध्य मानते हैं उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य है।

प्र०—यदि ऐसा है तो साधकको सुखसाध्य ही मानना चाहिये । किन्तु जो कञ्चन, कामिनी, कुटुम्ब और शरीरके आराम-को छोड़कर साधन करते हैं उनको भी यह कष्टसाध्य क्यों प्रतीत होता है ?

उ०—मनकी चञ्चलता तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा एवं राग, द्वेष, ममता, अहंकार और अज्ञान आदि दोषोंके कारण, तथा श्रद्धा और प्रेमकी कमी एवं इसके रहस्य और प्रभाव न जाननेके कारण यह कष्टसाध्य प्रतीत हो सकता है ।

प्र०—इस साधनमें रुकावट डालनेवाले दोषोंमें भी विशेष दोष कौन-कौनसे हैं ?

उ०—श्रद्धा और प्रेमकी कमी, मान और बड़ाईकी इच्छा, मनकी चञ्चलता, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, आसक्ति और अहंकार प्रभृति विशेष दोष हैं ।

प्र०—इन सबके नाशके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उ०—विवेक और वैराग्यद्वारा सारे विषय-भोगोंसे मनको हटाकर भगवान्‌की शरण रहते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम कर्मयोगके साधनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार चेष्टा करनेसे सम्पूर्ण दुःख और दोषोंका नाश होकर परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

प्र०—'प्राणपर्यन्त चेष्टा करना किसे कहते हैं ?

उ०—कञ्चन, कामिनी, भोग और आरामकी तो बात ही क्या है, निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके थोड़े-से भी पालनके मुकाबलेमें

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझना। एवं परम तत्पर होकर उसके पालनके लिये सदा-सर्वदा प्रयत्न करनेको प्राणपर्यन्त चेष्टा करना कहते हैं।

प्र०—इस प्रकारकी चेष्टा तत्परतासे न होनेमें क्या कारण है ?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे न समझना।

प्र०—प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जाननेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको बतलानेवाले गीतादि शास्त्रोंका मनन एवं इसके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंका संग करके उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार कटिबद्ध होकर चेष्टा करनेसे इसके प्रभाव और रहस्यको मनुष्य तत्त्वसे जान सकता है। जो इस निष्काम कर्मयोगके रहस्य और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता। तथा साधन करते-करते अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है, और उसका सारे संसारमें भी सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है। इस प्रकार जिसकी समतामें निश्चल-स्थिर स्थिति है उसकी परमात्मामें ही स्थिति है क्योंकि परमात्मा सम है, इसलिये वह सारे दुःख, पाप और क्लेशोंसे छूटकर परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति जिसकी अन्तकालमें भी हो जाती है, वह भी जन्म-मृत्युके महान् भयसे छूटकर विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। (गीता २। ७२)



धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि



युगके प्रभाव और जड़ भोगमयी सभ्यताके विस्तारसे आज जगत्‌में धर्मके सम्बन्धमें बड़ी ही कुरुचि हो रही है। जहाँ प्राणोंको न्योछावर करके भी धर्मका पालन कर्तव्य समझा जाता था, वहाँ आज धर्मको ही प्राणविघातक शत्रु मानकर उसके विनाशकी चेष्टा हो रही है। धर्म क्या वस्तु है, इसको जाननेका प्रयास कुछ भी न कर आज उलटे धर्मका नाम-निशान मिटानेमें ही बहादुरी समझी जाती है और आवेशमें आये हुए धर्मज्ञानशून्य मनुष्य उच्छृङ्खलतारूप स्वतन्त्रताके उन्मादसे ग्रस्त होकर ईश्वर और धर्मका अस्तित्व नाश करनेपर तुले हुए हैं। और डङ्केकी चोट ईश्वर और धर्मको अपराधी ठहराकर पुकार रहे हैं कि 'इस धर्म और ईश्वरने ही जगत्‌का सत्यानाश कर दिया। धर्म और ईश्वरके कारण ही संसारमें गरीबों और दुर्बलोंपर अत्याचार हुए और हो रहे हैं। धर्म और ईश्वरकी गुलामीने मनुष्यको गुलाम बननेका आदी बना दिया और इस धर्म और ईश्वरकी मान्यतासे ही भोलेभाले लोग लूटे गये और लूटे जा रहे हैं।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वार्थी, कामभोगलोलुप, दाम्भिक पाखण्डी लोगोंने कामिनी, काञ्चन और मान-बड़ाईकी कामनासे काम, क्रोध और लोभके वश होकर धर्मके नामपर अनाचार किये और कर रहे हैं। यह भी सत्य है कि ईश्वरके पूजक कहलानेवाले पुजारी और याजकोंमें भी अनेकों पाखण्डी दुराचारियोंने लोगोंके

ठगनेके लिये नये-नये स्वाँग बनाये और आज भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और धनके मदमें अन्धे हुए स्वार्थपरायण, धर्मज्ञानरहित विषयलोलुप मनुष्य अवश्य ही बेचारे गरीब, दुखी किसान मजदूर ग्रामीण भोलेभाले लोगोंसे पशुओंकी भाँति काम लेते हैं, उनपर अत्याचार करते हैं और उनका हक मारते हैं। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह धर्म और ईश्वरका दोष है या इसलिये धर्म और ईश्वरको नहीं मानना चाहिये। बल्कि यों कहना चाहिये कि लोगोंमें धर्मबुद्धि और ईश्वरमें आस्था न रहनेसे ही यह पाखण्ड और अनाचार फैला। यदि वास्तवमें लोगोंकी धर्ममें प्रवृत्ति, और सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, न्यायकारी दयालु ईश्वरकी सत्तामें विश्वास होता तो इस प्रकारका अनाचार कदापि नहीं फैलता। अनाचार, अत्याचार, पाखण्ड और गरीबोंके उत्पीड़नमें यह धर्मका ह्रास ही प्रधान कारण है।

आज तीर्थोंमें जो काम और लोभके वशमें हुए कुछ दाम्भिक पुरुष किसी प्रकारसे प्रविष्ट होकर श्रद्धावान् यात्रियोंकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठा रहे हैं, अथवा आज जो कामभोगपरायण नीच वृत्तिके मनुष्य भक्तिके उत्तम चिह्नोंको धारणकर धन और स्त्रियोंके सतीत्वका हरण कर रहे हैं, वे अवश्य ही महान् अपराधी हैं। धर्मके स्थानोंको दूषित करनेवाले, काम और लोभवश जनताको ठगनेवाले, अपने कुकर्मों और दुराचारोंसे धर्मात्मा, साधु-सन्त, और भक्तोंके नामपर कलङ्क लगानेवाले इन नरपिशाचोंकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। परन्तु ईश्वर और धर्मकी सत्तामें श्रद्धा न रखकर

धर्मका ढोंग करनेवाले इन स्वार्थी, दम्भी और पाखण्डियोंको धर्मात्मा, भक्त या ईश्वरवादी बतलाकर, इनका उदाहरण पेशकर अविवेकवश तीर्थ, मन्दिर, धर्म या ईश्वरकी निन्दा करना—धर्म और ईश्वरपर अश्रद्धा पैदा करनेकी चेष्टा करना एक प्रकारसे धर्मपर अत्याचार करना और जान-बूझकर घोर अपराध करना है। जगत्में न्यूनाधिकरूपमें दम्भी, पाखण्डी मनुष्य सदा ही रहे हैं और इस घोर कलिकालमें तो उनकी संख्या बढ़ी हुई है ही। जहाँ जिस वेषके धारण करने और जिस प्रकारका काम करनेसे उनका स्वार्थसाधन होता है वे तुरन्त दम्भपूर्वक उसी वेषको धारणकर वैसा ही कर्म अपना नीच मनोरथ सिद्ध करनेके लिये करने लगते हैं। पिछले दिनों जब खादीका बहुत अधिक आदर था, तब यह देखा गया था कि कितने ही मनुष्य स्वार्थसाधनके लिये ही, खादीमें श्रद्धा न रहने-पर भी खादी पहनने लगे थे। परन्तु इससे खादी बदनाम नहीं की जा सकती। आज भी यदि सच्चे देशसेवकोंमें कोई देशद्रोही मिल जाय और देशसेवकका बाना पहनकर देशका अहित करने लगे तो इससे न तो देशसेवा बुरी बात ठहरती है और न सच्चे देशसेवकोंपर ही न्यायतः कोई अभियोग लग सकता है। यही न्याय धर्मके लिये भी लागू है। परन्तु आज तो मानो धर्म और ईश्वरसे लोगोंका कुछ द्वेष-सा हो गया है। न्यायान्यायका विचार छोड़कर किसी भी बहाने धर्मकी और ईश्वरकी व्यर्थ निन्दा करना ही कुछ लोगोंने अपना कर्तव्य-सा मान लिया है।

खेदकी बात है कि धर्मप्राण भारतकी आर्य जातिमें उत्पन्न पुरुषोंमें भी आज ऐसे लोग हो गये हैं; इसका एक बड़ा कारण है

भोगमयी पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रभावान्वित आजकलकी दूषित धर्महीन शिक्षा। बचपनसे लड़कोंको ऐसी शिक्षा दी जाती है जिसमें धर्मका ज्ञान तो होता ही नहीं वरं उलटी धीरे-धीरे धर्ममें अरुचि बढ़ने लगती है। यही कारण है कि जिनके पिता-पितामह संस्कृतके बहुत अच्छे विद्वान्, धर्मके ज्ञाता और धर्मपथपर दृढ़तासे आरूढ़ थे, आज उन्हींके पुत्र-पौत्रोंको यह भी पता नहीं है कि ऋषिसेवित सनातनधर्म किसे कहते हैं। अधिकांशमें ऐसे ही लोग धर्म और ईश्वरके विरोधी बनते हैं। जैसे आज जङ्गलोंमें रहनेवाली पहाड़ी जातियोंमें धर्मका ज्ञान नहीं रहा, प्रायः इसी प्रकारकी स्थिति अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए लोगोंकी है। एक विशेषता और भी है। पहाड़ी जातिके भोले-भाले भाइयोंको समझा-बुझाकर धर्मके मार्गपर लाना सहज है; परन्तु जिन भाइयोंको विद्या, बुद्धि और नवीन संस्कृतिका अभिमान है और जो इसीको उन्नति मान बैठे हैं उनका धर्मपथपर आना बहुत ही कठिन है। ईश्वरकी दयाके सामने तो कुछ भी कठिन नहीं है; ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। कुछ समय पूर्व भारतवर्षमें कोई भी भाई इस प्रकार धर्म और ईश्वरके विरुद्ध खुले आम कुछ भी कहनेका साहस नहीं करता था, जैसा कि आजकल लोग पत्रों और सभाओंमें अनर्गल वाणीमें ईश्वर और धर्मका नाम मिटानेके उद्देश्यसे धर्म और ईश्वरपर गन्दे-से-गन्दा आक्षेप करते हैं। उन ईश्वरके और धर्मके विरोधी भाइयोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि आपलोग आवेशमें न आकर गम्भीर विचार करें। उन्नति और उद्धारके नामपर ईश्वर और धर्मके विरुद्ध आन्दोलन कर इस पवित्र आर्यभूमिको महान् सङ्कटमें

डालनेका प्रयत्न न करें। प्राचीन कालके धर्मप्रचारक और धर्मसेवी महर्षियोंके त्यागपूर्ण जीवनकी ओर ध्यान दें। वे कितने बड़े त्यागी और विरक्त थे। धर्मके लिये उन्होंने कैसे-कैसे सङ्कट सहे थे। देश और धर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने किस प्रकार अपने जीवन अर्पण कर रक्खे थे। वृत्रासुरके उपद्रवसे दुनियाको बचानेके लिये महर्षि दधीचिने शरीरका मांस गायोंको चटवाकर अपनी अस्थियाँतक दे दी थीं। ऐसे बहुत-से उदाहरण प्राचीन इतिहासोंमें मिलेंगे। आपलोग विचार कीजिये कि धर्मका ह्रास होनेपर देश और जातिकी क्या दशा होगी। ईश्वरका आश्रय और धर्ममें प्रवृत्ति—यही दो ऐसी चीजें हैं, जिनसे हम दुःखोंसे छूटकर परम सुखके अधिकारी हो सकते हैं। ईश्वरमें अविश्वास और धर्मका लोप होनेपर हमारा जीवन पशुओंसे भी अधिक खराब हो जायगा।

ईश्वरकी सत्ता न मानने और धर्मका विरोध करनेसे अधर्मकी वृद्धि होगी। अधर्मके विस्तारसे संसार नष्ट-भ्रष्ट होने लगेगा। आचारकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। परधन, पर-स्त्रीका विचार उठ जायगा। आगे चलकर अधर्मीलोग बहिनों और कन्याओंके साथ व्यभिचाररूपी घोर पाप करने लगेंगे। इस बातका सङ्केत अभीसे लोगोंके लेखोंमें होने लगा है। यह इतना बड़ा पाप है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने इसको महान् घृणित कार्य बतलाकर ऐसा करने-वाले नीच मनुष्योंको मार डालनेतककी प्रेरणा की है—

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

जब धर्मकी मर्यादा नहीं रहेगी, पशुधर्म फैल जायगा तब ऐसे घोर पाशविक कर्मसे कौन किसे रोकेगा ? माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा तो दूर रही, उनकी अवहेलना और अपमान होने लगेगा। जिसके मन जो बात अच्छी लगेगी, उसीको सिद्धान्त बतलाया जायगा। जिसका फल इस लोक और परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं होगा। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही प्राप्त होता है।'

ईश्वर और धर्मका शासन न रहनेके कारण अधर्मीलोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये पाखण्ड रचकर दुनियाको धोखा देंगे। बलवान् और अधिकारसम्पन्न लोग क्रोध और मोहके वश हो दुर्बलों और गरीबोंपर वैसे ही अत्याचार करेंगे जैसे वनके बलवान् पशु निर्बल, निरपराधी पशुओंको दुःख देते हैं। नृशंसता बढ़ते-बढ़ते घोर राक्षसीपन आ जायगा और निरपराध पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या स्वार्थवश हुए मनुष्य ही मनुष्यको खाने लगेंगे। मान, मोह और मदमें भूले हुए अधर्मीलोग स्वार्थसिद्धिके लिये मनमाना आचरण करेंगे। बलवान्, धनी और शिक्षित कहलानेवाले मनुष्य ही ईश्वर, महात्मा, योगी समझे जायँगे। ऐसी

अवस्थामें जगत् दुःखमय हो जायगा। अधर्मके कारण ही आज पुण्यभूमि भारतवर्ष पराधीन, दीन, दुखी हो रहा है। अधर्मकी वृद्धिका ही यह परिणाम है जो आज भारतवर्षमें नित-नयी महामारियाँ बढ़ रही हैं, मनुष्योंकी आयु कम हो गयी है, पशुधन नष्ट हो रहा है। भूकम्प और बाढ़ आदि दैवी प्रकोपोंसे प्राणी दुखी हो रहे हैं और अन्न-वस्त्रके बिना प्राण-त्याग कर रहे हैं। फिर अधर्मकी विशेष वृद्धि होनेपर तो दुःख और भी बढ़ जायँगे। अधर्मका फल निश्चय ही दुःख है। परन्तु धर्मका फल दुःख कदापि नहीं हो सकता। संसारका इतिहास देखनेसे पता लगता है कि सच्चे धर्मकी ही सदा जय हुई। क्योंकि जहाँ धर्म होता है वहीं ईश्वरकी सहायता मिलती है। महाभारतमें गुरु द्रोणाचार्य धर्मराज युधिष्ठिरको विजयका आश्वासन देते हुए कहते हैं—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

(भीष्मपर्व)

'जहाँ धर्म है, वहीं ईश्वर (कृष्ण) हैं और जहाँ ईश्वर हैं, वहीं जय है।'

अधर्म करनेवाले सब प्रकारसे धन, जन, शक्ति और सत्तासे सम्पन्न बड़े-से-बड़े बलवान् लोग भी धर्मात्माओंद्वारा मारे गये हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि असुर विपुल धन-जनसे सम्पन्न थे, उनके पास युद्धके असाधारण उपकरण मौजूद थे। किन्तु पापके कारण वे भगवान्की दयासे युक्त साधारण वानरोंद्वारा भी परास्त किये गये। यह बात न्याययुक्त

और सिद्ध है कि जो मनुष्य दुखी, अनाथ और निर्बलोंपर अत्याचार करता है वह अपनी उस अत्याचारमयी अनीतिके द्वारा स्वयं ही मारा जाता है। उसीका पाप उसे खा जाता है। पापका परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ेगा; किसी कारणवश कुछ विलम्ब भले ही हो जाय। दीर्घकालके बाद मिलनेवाले फलको दीर्घदृष्टि न होनेके कारण हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसीसे हमें भ्रम हो जाता है कि पापीलोग फलते-फूलते हैं और संसारमें पापका फल नहीं मिलता। इसीसे लोग धर्मकी अवहेलनाकर अधर्ममें प्रवृत्त होते हैं। पर यह सोचना चाहिये कि सभी कुपथ्योंका फल तत्काल नहीं होता। किसीका जल्दी होता है तो किसीका बीसों वर्ष बाद फल सामने आता है। निपुण वैद्य-डाक्टरोंको भी पता नहीं लगता कि यह किसका परिणाम है। परन्तु है वह अवश्य ही किसी समय किये हुए किसी पाप या कुपथ्यका परिणाम। कोई बीज जमीनमें तुरन्त अङ्कुरित होता है, कोई महीनों बाद होता है। किसी पेड़में हाथोंहाथ फल लगने लगते हैं तो कोई पेड़ बीसों सालके बाद फल देता है। यह निश्चय रखना चाहिये कि बीजके अनुसार फल अवश्य होगा। इसी प्रकार हमारे किये हुए कर्मोंका फल भी निस्सन्देह हमें भोगना पड़ेगा। अतएव अधर्मसे सदा बचना चाहिये; और धर्मपालनमें तत्पर होना चाहिये।

धर्मके आचरणसे मनुष्यमें समता, शान्ति, दया, सन्तोष, सरलता, साहस, निर्भयता, वीरता, धीरता, गम्भीरता, क्षमा आदि गुणोंका स्वाभाविक ही विकास होता है। धर्मरूपी तपके आचरणसे अग्निसे ईंधनकी भाँति सारे पाप और अवगुण जल जाते हैं और

विषयोंसे विरक्ति तथा ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, जिससे समस्त सद्गुण उसमें अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। ऐसा धर्मात्मा पुरुष किसी भी प्राणीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता। वह सबमें ईश्वरका या अपने आत्माका दर्शन करता है। सर्वत्र ईश्वर अथवा आत्माका दर्शन करनेवाला पुरुष कैसे किसीको दुःख दे सकता है। जैसे अज्ञानी पुरुष अपने स्वार्थमें रत रहता है, वैसे ही ऐसा धर्मात्मा पुरुष चींटीसे लेकर इन्द्रपर्यन्त समस्त जीवोंके हितमें रत रहता है। इसीके परिणामस्वरूप वह पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२। ४)

धर्मको जाननेवाले पुरुषोंद्वारा निर्बल गरीबोंपर अत्याचार होना तथा उनके द्वारा किसीका धन हरण होना और सताया जाना तो एक किनारे रहा, वे समझ-बूझकर एक क्षुद्र चींटीको भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। जो जान-बूझकर किसी भी जीवको किञ्चिन्मात्र भी पीड़ा पहुँचाता है, उसके लिये धर्मके तत्त्वकी बात तो दूर रही, उसने धर्मका तत्त्व जाननेवाले पुरुषोंसे शिक्षा भी नहीं पायी है। क्योंकि शास्त्रोंमें अहिंसाको ही परम धर्म बतलाया है—

अहिंसा परमो धर्मः।

गोस्वामीजीने भी कहा है—

पर-हित-सरिस धरम नहि भाई। पर-पीड़ा सम नहि अधमाई॥

हमलोगोंको शम, दम, यम, नियम आदि उत्तम धर्मोंका पालन करके अपने भूले हुए भाइयोंको मार्ग दिखलाना चाहिये, जिससे सब धर्मपर आरूढ़ हों और देश सुखी हो जाय । जिस देशमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने अवतार लिया और जिसमें साक्षात् श्रीभगवान्के मुखकमलसे निकले हुए गीता-जैसे सच्चे धर्मको बतलानेवाला ग्रन्थ हो, उस देशकी प्रजा अशान्ति और दुःखका भोग करे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है । गीतामें बतलाये हुए धर्मका पालन करनेसे हम स्वयं शान्ति और सुखी होकर समस्त भारतको सुखी और स्वावलम्बी बना सकते हैं । समस्त गीताकी बात तो दूर रही केवल सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी सम्पदारूप धर्मका पालन और आसुरी सम्पदारूप अधर्मका त्याग करनेसे ही मनुष्य सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त हो सकता है । वह स्वयं ही सुखी होता है सो बात नहीं, वह जिस गाँव, जिस नगरमें रहता है, उसमें जितने लोग रहते हैं प्रायः सबको अपने धर्मबलसे सुखी बना सकता है । जहाँ सच्चा धर्मात्मा पुरुष रहता है वहाँ उसके धर्मके प्रतापसे भूकम्प, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपसे प्रजा पीड़ित नहीं हो सकती । दैवयोगसे कदाचित् ऐसी कोई विपत्ति आ जाती है तो उनके प्रतापसे यानी उनकी परोपकार-वृत्तिसे लोग उस विपत्तिसे सहज ही छूट जाते हैं । महाराज धर्मराज युधिष्ठिर जब अपने चारों भाइयों तथा रानी द्रौपदीके साथ विराटनगरमें छिपे हुए थे, उस समय उनका पता लगानेके लिये व्यग्र हुए दुर्योधनको पितामह भीष्म उनकी पहचान बतलाते हुए कहते हैं—

पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति॥
गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च॥
गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥

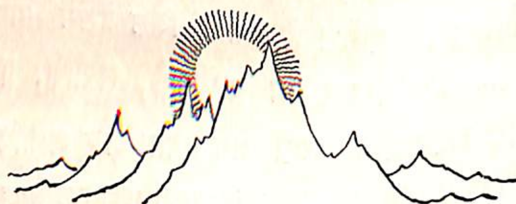
धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः ।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥
देशे तस्मिन्भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते ।
सम्प्रीतिमान् जनस्तत्र सन्तुष्टः शुचिरव्ययः ॥
देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान् ।
इष्टे दाने महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ॥
अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुचिव्रतः ।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः ।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
भविष्यति जनस्तत्र नित्यश्चेष्टप्रियव्रतः ।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित् ।
यस्मिन्सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परन्तेज आनृशंस्यमथार्जवम् ।

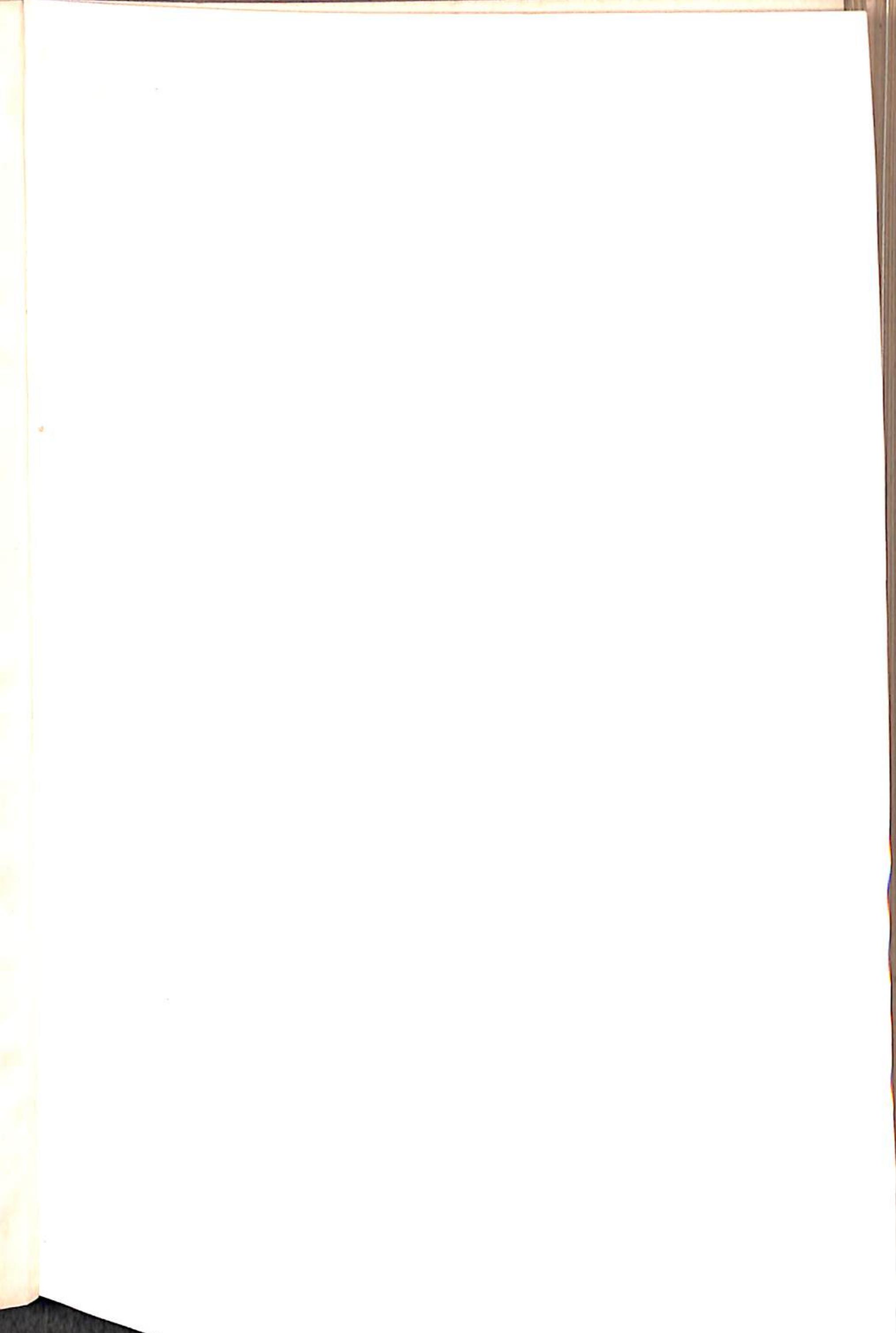
(महा० विराटपर्व २८ । १४–३२)

'जिस नगर और ग्राममें राजा युधिष्ठिर रहते होंगे उस देशके मनुष्य दानशील, उदार, जितेन्द्रिय तथा बुरे कामोंमें लज्जा करनेवाले होने चाहिये । राजा युधिष्ठिर जहाँ रहते होंगे वहाँके मनुष्य प्रिय बोलनेवाले, सदा इन्द्रियोंको जीते हुए, श्रीसम्पन्न, सत्यपरायण, हृष्ट, पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होने चाहिये ।

जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग दूसरेके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले, डाह करनेवाले, अभिमानी, मत्सरतावाले नहीं होकर सब धर्मका अनुसरण करनेवाले होंगे। वहाँ अत्यधिक वेदध्वनियाँ, यज्ञोंकी पूर्णाहुतियाँ और बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञ होते रहेंगे। वहाँ मेघ आवश्यकतानुसार सदा अच्छी वर्षा करता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। और पृथ्वी पीड़ारहित तथा बहुत अन्न पैदा करनेवाली होगी। वहाँ गुणकारी अन्न, रसभरे फल, सुगन्धित पुष्प और शुभ शब्दोंसे युक्त वाणी होगी। जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँ सुखस्पर्श वायु चलती होगी। वहाँके मनुष्योंका धर्म और ब्रह्म-विषयक ज्ञान पाखण्डरहित होगा तथा भयको कहीं प्रवेश करनेको जगह नहीं मिलेगी। वहाँ बहुत-सी गायें होंगी और वे निर्बल तथा दुबली-पतली नहीं होंगी। वहाँ दूध, दही और घृत रसयुक्त तथा हितकारक होंगे। वहाँ खाने-पीनेके पदार्थ रसभरे और गुणकारी होंगे। जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे उस देशमें रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श गुणोंसे भरे होंगे तथा रूप (दृश्य) भी रमणीय दिखायी देंगे। इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ रहते होंगे वहाँके सब द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) धर्मका पालन करते होंगे और धर्म स्वयं अपने गुणोंसे सम्पन्न होंगे। हे तात ! जिस देशमें पाण्डव रहते होंगे वहाँ सब लोग परस्पर प्रेम करनेवाले, सन्तोषी, पवित्र और अकालमृत्युसे रहित होंगे। वहाँ लोग देवता और अतिथिकी पूजामें सर्वात्मभावसे प्रीति रखनेवाले, इष्ट और दानमें महान् उत्साह रखनेवाले और अपने-अपने धर्ममें तत्पर होंगे। जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे वहाँके मनुष्य अशुभका त्याग करके शुभकी चाह करनेवाले, यज्ञमें

प्रीति करनेवाले और शुभ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे। हे तात! जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके मनुष्य असत्य बचनोंका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण तथा मंगलसे युक्त, कल्याणकी इच्छावाले और शुभ बुद्धिवाले होंगे। वे नित्य परमसुख देनेवाले शुभ कार्योंमें तत्पर होंगे। हे तात! ऐसे जिन धर्मात्मा युधिष्ठिरमें सत्य, धैर्य, दान, पराशान्ति, अविचल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, महान् तेज, दयालुता, सरलता आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन धर्मराजको ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्य तो पहचान ही कैसे सकते हैं?' अतएव सबको धर्मपरायण होना चाहिये। खास करके धर्माचार्य और धर्मप्रेमी कहलानेवाले पुरुषोंको (जिनमें आज कुछ थोड़े-से महात्माओंको छोड़कर अधिकांश स्वार्थमें रत हो रहे हैं) अज्ञाननिद्रासे सचेत होकर धर्मपालनके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये और पाश्चात्य भोगमयी सभ्यताकी चकाचौंधसे पथच्युत हुए भाइयोंको बहुत प्रेम, विनय और नम्रताके साथ धर्मका मर्म समझाकर धर्ममार्गपर लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।







श्रीकमला-पति-स्वागत

नारीधर्म

स्त्रीधर्मके विषयमें न तो मुझे विशेष ज्ञान है और न मैं अधिकारी ही हूँ तथापि अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ ।

स्वतन्त्रताके लिये स्त्रियोंकी अयोग्यता

स्त्री-जातिके लिये स्वतन्त्र न होना ही सब प्रकारसे मङ्गलदायक है । पूर्वमें होनेवाले ऋषि-महात्माओंने स्त्रियोंके लिये पुरुषोंके आधीन रहनेकी जो आज्ञा दी है वह उनके लिये बहुत ही हितकर जान पड़ती है । ऋषिगण त्रिकालज्ञ और दूरदर्शी थे । उनका अनुभव बहुत सराहनीय था । जो लोग उनके रहस्यको नहीं जानते हैं वे उनपर दोषारोपण करते हैं और कहते हैं कि ऋषियोंने जो स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण किया यह उनके साथ अत्याचार किया गया । ऐसा कहना उनकी भूल है परन्तु यह विषय विचारणीय है । स्त्रियोंमें काम, क्रोध, दुःसाहस, हठ,

बुद्धिकी कमी, झूठ, कपट, कठोरता, द्रोह, ओछापन, चपलता, अशौच, दयाहीनता आदि विशेष अवगुण होनेके कारण वे स्वतन्त्रताके योग्य नहीं हैं। तुलसीदासजीने भी स्वाभाविक कितने ही दोष बतलाये हैं—

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया॥

अतएव उनके स्वतन्त्र हो जानेसे—अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार आदि दोषोंकी वृद्धि होकर देश, जाति, समाजको बहुत ही हानि पहुँच सकती है। इन्हीं सब बातोंको सोचकर मनु आदि महर्षियोंने कहा है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४७-१४८)

'बालिका, युवती वा वृद्धा स्त्रीको भी (स्वतन्त्रतासे बाहरमें नहीं फिरना चाहिये और) घरोंमें भी कोई कार्य स्वतन्त्र होकर नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके वशमें, यौवनावस्थामें पतिके आधीन और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके आधीन रहे, किन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे।'

यह बात प्रत्यक्ष भी देखनेमें आती है कि जो स्त्रियाँ स्वतन्त्र

होकर रहती हैं वे प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। विद्या, बुद्धि एवं शिक्षाके अभावके कारण भी स्त्री स्वतन्त्रताके योग्य नहीं है।

वर्तमान कालमें स्त्री-शिक्षाकी कठिनाई

स्त्री-जातिमें विद्या एवं शिक्षाका भी बहुत ही अभाव है। इनके लिये शिक्षाका मार्ग भी प्रायः बन्द-सा हो रहा है और न अति शीघ्र कोई सरल राह ही नजर आती है। कन्या एवं स्त्रियोंको यदि पुरुषोंद्वारा शिक्षा दिलायी जाय तो प्रथम तो पढ़े-लिखे मिलनेपर भी अच्छी शिक्षा देनेवाले पुरुष नहीं मिलते। उनके स्वयं सदाचारी न होनेके कारण उनकी शिक्षाका अच्छा असर नहीं पड़ता वरं दुराचारकी वृद्धिकी ही शङ्का रहती है, शङ्का ही नहीं प्रायः ऐसा देखनेमें भी आ जाता है कि जहाँ कन्याओं और स्त्रियोंको पुरुष शिक्षा देते हैं वहाँ व्यभिचारादि दोष घट जाते हैं। जहाँ कहीं स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका सम्बन्ध देखनेमें आता है वहाँ प्रायः दूषित वातावरण देखा जाता है। कहीं-कहीं तो उनका भण्डाफोड़ हो जाता है, और कहीं-कहीं नहीं भी होता। स्कूल, कॉलेज, पाठशाला, अबलाश्रम, थियेटर, सिनेमाकी तो बात ही क्या है, कथा, कीर्तन, देवालय और तीर्थस्थानादिका भी वातावरण स्त्री-पुरुषोंके मर्यादाहीन सम्बन्धसे दूषित हो जाता है। इसलिये स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध जहाँतक कम हो, उतना ही हितकर है।

यदि स्त्रियोंके द्वारा कन्या एवं स्त्रियोंको शिक्षा दिलायी जाय तो प्रथम तो विदुषी, सुशिक्षिता स्त्रियोंका प्रायः अभाव-सा ही

है। इसपर कोई मिल भी जाय तो सदाचारिणी होना तो अत्यन्त ही कठिन है। शिक्षापद्धतिको कुछ जाननेवाली होनेपर भी स्वयं सदाचारिणी न होनेसे उनका दूसरोंपर अच्छा असर होना सम्भव नहीं। आज भारतवर्षमें सैकड़ों कन्या-पाठशालाएँ हैं, परन्तु यह कहना बहुत ही कठिन है कि उनमेंसे कोई भी पूर्णतया हमारे सनातन-आदर्शके अनुसार सञ्चालित हो रही है।

प्राचीन कालकी स्त्री-शिक्षा

पूर्वकालमें जिस शिक्षापद्धतिसे शिक्षिता होकर बहुत-सी अच्छी सदाचारिणी, विदुषी, सुशिक्षिता स्त्रियाँ हुआ करती थीं वह शिक्षापद्धति अब प्रायः नष्ट हो गयी है। पहले जमानेमें कन्याएँ पिताके घरमें ही माता-पिता-भाई-बहिन आदि अपने घरके ही लोगोंद्वारा, एवं विवाहके उपरान्त ससुरालमें पति, सासु आदिके द्वारा अच्छी शिक्षा पाया करती थीं। वर्तमान कालकी तरह कहीं बाहर जाकर नहीं। इसीलिये वे सदाचारिणी और सुशिक्षिता हुआ करती थीं। कन्याओंके गुरुकुल, पाठशाला और विश्वविद्यालयका उल्लेख श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादिमें कहीं नहीं पाया जाता। लड़कोंके साथ लड़कियोंके पढ़नेकी बात भी कहीं नहीं पायी जाती। उस समय ऊपर कहे अनुसार घरहीमें शिक्षाका प्रबन्ध किया जाता था या किसी विदुषी स्त्रीके पास अपने घरवालोंके साथ जाकर भी शिक्षा ग्रहण की जाती थी। जैसे श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर सीताजीने अनसूयाजीसे शिक्षा प्राप्त की थी। उस कालमें बड़ी-बड़ी सुशीला, सुशिक्षिता विदुषियाँ हुई हैं जिनके चरित्र आज भी हमारे लिये आदर्श हैं।

हमें भी इस समय स्त्रियोंके लिये शिक्षा और विद्या पानेका प्रबन्ध अपने घरोंमें ही करनेकी कोशिश करनी चाहिये । हर एक भाईको अपने-अपने घरोंमें धार्मिक पुस्तकोंके आधारपर अपने-अपने बाल-बच्चों और स्त्रियोंको नियमितरूपसे शिक्षा देनी चाहिये ।

प्रथम मनुष्यमात्रके सामान्य धर्मकी एवं स्त्रीमात्रके सामान्य धर्मकी शिक्षा देकर फिर कन्याओंके लिये, विवाहिता स्त्रियोंके लिये एवं विधवा स्त्रियोंके लिये अलग-अलग विशेष धर्मकी शिक्षा देनी चाहिये ।

मनुष्यमात्रके कर्तव्य

मनुष्यमात्रके सामान्य धर्म संक्षेपसे निम्नलिखित हैं—स्त्रियोंको इनके भी पालन करनेकी कोशिश करनी चाहिये । महर्षि पतञ्जलिने यम-नियमके नामसे और मनुने धर्मके नामसे ये बातें बतायी हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन २ । ३०)

किसी प्राणीको किसी प्रकार भी किञ्चिन्मात्र कभी कष्ट न देनेका नाम अहिंसा है ।

हितकारक प्रिय शब्दोंमें न अधिक और न कम अपने मनके अनुभवका जैसा-का-तैसा भाव निष्कपटता-पूर्वक प्रकट कर देनेका नाम सत्य है ।

यम

किसी प्रकार भी किसीकी वस्तुको न छीनने और चुरानेका नाम अस्तेय है ।

सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करके वीर्यकी रक्षा करनेका नाम ब्रह्मचर्य* है ।

शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य पदार्थोंका कभी संग्रह न करनेका नाम अपरिग्रह है ।

ये पाँच यम हैं । इन्हींको महाव्रत भी कहते हैं ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योगदर्शन २ । ३२)

नियम

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रताका नाम शौच है । दैवेच्छासे प्राप्त सुख-दुःखादिमें सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहनेका नाम सन्तोष है ।

मन और इन्द्रिय-संयमरूप धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करनेका नाम तप है ।

ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं कल्याणप्रद शास्त्रोंके अध्ययनका नाम स्वाध्याय है ।

सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके नित्य उसके स्वरूपका ध्यान रखते हुए उसकी आज्ञापालन करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है । ये पाँच नियम हैं ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

---

* कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वथा मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥

भारी दुःख आ पड़नेपर भी बुद्धिके विचलित न होने और धैर्य धारण करनेका नाम धृति है।

धर्मके दश लक्षण

अपकार करनेवालेसे बदला लेना न चाहनेका नाम क्षमा है।

मनको वशमें करनेका नाम दम है।

अस्तेय और शौचका अर्थ ऊपर लिखा ही है।

इन्द्रियोंको वशमें करनेका नाम इन्द्रिय-निग्रह है।

सात्त्विक बुद्धिका नाम धी है।

सत्य और असत्य पदार्थके यथार्थ ज्ञानका नाम विद्या है।

सत्यका अर्थ भी ऊपर दिया जा चुका है।

मनकी प्रतिकूलतामें वृत्तियोंके उत्तेजित न होनेका नाम अक्रोध है।

इसलिये ईश्वरभक्ति, योग्यता और शक्तिके अनुसार सेवा करना, काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दुर्गुणोंका त्याग, लज्जा, शील, समता, सन्तोष, दया, सरलता, शान्ति, कोमलता, निर्भयता आदि सद्गुणोंका सेवन, चोरी, जारी, झूठ, कपट, हिंसा आदि दुराचारों एवं मादक वस्तुओंका तथा परनिन्दा आदि दुर्व्यसनोंका त्याग करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

शास्त्रोंमें मनुष्यमात्रके लिये आत्माके उद्धारके प्रायः तीन उपाय बतलाये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। उनमें ज्ञानका मार्ग कठिन होनेके कारण स्त्रियोंके लिये कर्म और उपासना—ये दो ही सरल, सुसाध्य हैं। अतएव स्त्रियाँ निष्कामभावसे कर्म और उपासना (ईश्वरभक्ति) करके ही शीघ्र आत्माका उद्धार कर सकती हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा ईश्वरको पूजकर मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८ । ४६)

'हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ।'

अतएव स्वार्थका त्याग करके सभी स्त्रियोंको उत्तम कर्मोंका आचरण निष्कामभावसे करना चाहिये । निष्कामभावसे सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही आत्माका कल्याण हो सकता है ।

जिस आचरणसे यावन्मात्र जीवोंको सुख पहुँचे उसीका नाम सदाचार है ।

स्त्रीमात्रके कर्तव्य

प्रथम तो नैहर और ससुरालवालोंके साथ उत्तम आचरणका अभ्यास करें । घरमें जो बड़े स्त्री-पुरुष हों उनकी सेवा, उनसे शिक्षाका ग्रहण, नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम और उनकी आज्ञाका पालन करें । समान अधिकारवालोंसे प्रेमका व्यवहार करके प्रीति बढ़ावें और छोटोंका वात्सल्यभावसे पालन करें एवं खान-पान, लेन-देन आदिमें स्वार्थका त्याग करके सबके साथ सम व्यवहार करें । वस्त्राभूषण एवं खान-पान आदिके पदार्थ जो बाहरसे आ प्राप्त हों या घरमें ही तैयार किये

कर्म

जायँ उनमें सबसे उत्तम पदार्थ यदि नैहरमें निवास हो तो माता-पिता, भाई-बहिन, भौजाई-भतीजे आदिको मिले ऐसी कोशिश करें। अपने और अपने बालकोंके लिये नहीं। यदि माता-पिता, भाई-भौजाई इत्यादि विशेष आग्रह करें और उनकी प्रसन्नताके लिये चीज स्वीकार करनी ही पड़े तो जहाँतक हो वे देना चाहें उससे कम लेकर ही स्वयं सन्तोष एवं प्रसन्नता प्रकट करें एवं उनको भी सन्तोष करावें। बिना दिये एवं बिना उनकी मर्जी कोई भी चीज़ अपने या अपने बालकोंके लिये न तो माँगे ही और न लेनेकी इच्छा ही करें। यदि माता-पिता, भाई-भौजाईसे छिपाकर कोई वस्तु देवें तो वह उनके सन्तोषके लिये भी न लें एवं भाई-भौजाई-की मर्जी बिना प्रकटमें भी कोई चीज दें तो वह भी स्वीकार न करें क्योंकि संसारमें त्याग ही सबसे बढ़कर, मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण मुक्तिदायक पदार्थ है।

इसी प्रकार यदि ससुरालमें हो तो सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, फूफी-ननद आदि एवं उनके बालकोंको उपयुक्त उत्तम पदार्थ देकर बचे हुए पदार्थ अपने पति, पुत्र, नौकरादिको देकर सबके बाद सीता, सावित्री, द्रौपदी*, दमयन्तीकी तरह आप ग्रहण करें।

अपनी निजी चीज पीहर या ससुरालके दूसरे लोग काममें लावें तो अपना अहोभाग्य समझें और आनन्द मानें। यही नहीं,

* स्त्रीशिक्षाके विषयमें द्रौपदीने सत्यभामाको महाभारत वनपर्व अध्याय २३३-२३४ में जो कहा है वह देखना चाहिये। यह विषय गीताप्रेससे प्रकाशित 'नैवेद्य' नामक पुस्तकमें भी है।

वह उनकी सेवामें लगे इसके लिये कोशिश भी करें तथा इस प्रकारकी सेवा करके किसीके आगे प्रकाश न करें, दूसरोंके अधिकारकी चीज स्वयं लेनेके लिये कभी इच्छा एवं कोशिश न करें।

देवरानी, जेठानी, ननद आदिके बालकोंका अपने बालकोंकी अपेक्षा भी अधिक लाड़ और प्रेम करें। बालक थोड़ेमें ही प्रसन्न हो जाते हैं और बालकोंकी प्रसन्नता उनके माता-पिताको लाड़-चाव करनेवालेके प्रति कृतज्ञ बना देती है। इससे घरमें बड़ा प्रेम और सद्भाव रहता है।

पीहर या ससुरालमें सेवा-शुश्रूषा एवं रसोई-चौका-बर्तन आदि गृहकार्य तथा सीना-पिरोना-कातना आदि शिल्पकार्य या और कोई भारी कठिन काम आ प्राप्त हो तो सबसे पहले उत्साहके साथ उसको परमधर्म समझकर स्वयं करनेकी चेष्टा करें। दूसरे करते हों तो उनसे प्रेमाग्रहपूर्वक छीनकर भी स्वयं ही करनेकी चेष्टा करें। 'काममें अगाड़ी और भोगमें पिछाड़ी' वाली कहावतको अक्षरशः चरितार्थ कर दिखा दें। इस प्रकारका निःस्वार्थभावका कर्तव्यपालन ही शीघ्र आत्माका कल्याण करनेवाला है।

कोई काम दूसरे पाँच आदमियोंके साथ मिलकर करें तो उसकी सफलताका श्रेय सत्यकी रक्षा करते हुए स्वयं न लेकर दूसरोंको ही देनेका प्रयत्न करें। तथा कुछ बिगड़ जाय तो नम्रतापूर्वक स्वयं अपना ही दोष कायम करें।

सबको यथायोग्य मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा दें किन्तु इन्हें मुक्तिमें बाधक समझकर स्वयं स्वीकार न करें। हित और सुखकर पदार्थ एवं कार्यको दूसरोंको देनेकी और कष्टप्रद एवं अधिक परिश्रमके कार्य और अपेक्षाकृत अल्प मूल्यवाले पदार्थ अपने लिये लेनेकी सदा कोशिश रखें। गृहकार्य, सेवा, उपकार करके न किसीको कहें और न उसे मनमें ही रखें। अपनेद्वारा की हुई भलाई और दूसरोंद्वारा की हुई अपनी बुराईको भूल जायँ किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको कभी न भूलें। सबके साथ प्रेमका व्यवहार और सम्मानपूर्वक बातचीत करें। अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेवालेके साथ भी ईर्षा, क्रोध, द्वेष, घृणा आदिसे रहित होकर उसका हित करनेकी कोशिश करें। इस प्रकारके व्यवहारसे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और स्वामी भी अनुकूल बन जाते हैं किन्तु ऐसा व्यवहार स्वामीको अनुकूल बनानेके उद्देश्यसे नहीं, अपना कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये।

पीहर या ससुरालमें जो गृहकार्य सफाई आदि आवश्यक हो उसको बिना पूछे ही करने लग जायँ। भोजनादिके विषयमें ऐसा व्यवहार करना चाहिये—बलिवैश्वदेव होनेके बाद प्रथम तो अतिथिको भोजन कराना चाहिये। उसके बाद वृद्ध, बालक, रोगी, गर्भिणी स्त्री, प्रसूतिका, नव विवाहिता वधू आदिको भोजन कराना चाहिये। फिर घरके पुरुषोंको उनके बाद नौकर आदि सबको भोजन कराके स्वयं भोजन करना श्रेष्ठ माना गया है, गृहिणी स्त्रियोंके लिये यही यज्ञशिष्ट समझा गया है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३ । १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठलोग सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते हैं वे तो पापको ही खाते हैं ।'

बने हुए पदार्थोंमेंसे अच्छे-अच्छे पदार्थ अपने या अपने घरवालोंके लिये बचा लिये जायँ तो वे यज्ञसे बचे हुए नहीं वरं बचाये हुए हैं। इसलिये वे विषके समान हैं । बचाया हुआ भोजन करनेवाले पापके भागी होते हैं । अतएव अपने या अपने पति-पुत्रादिके लिये भी श्रेष्ठ पदार्थ अलग बचाकर नहीं रखने चाहिये । रसोईमें बने पाँच पदार्थोंमेंसे लोगोंके भोजन करते-करते अपने लिये थोड़े या दो तीन ही पदार्थ बच जायँ और वे भी स्वरूप और स्वाद और रसमें उतने अच्छे नहीं हैं किन्तु यज्ञशिष्ट होनेके कारण वे अमृतके तुल्य हैं ।

अतिथि देवताके समान होता है । उसको प्रेमयुक्त सेवा और भोजनादिसे सदा सन्तुष्ट करना चाहिये । अतिथि-सेवा गृहस्थका एक मुख्य धर्म माना गया है । किये गये खर्च और मेहनत बराबर होनेपर भी प्रेमपूर्वक की गयी सेवा बड़ी लाभदायक होती है और बिना प्रेम की हुई सेवा परिश्रममात्र है ।

मनु आदि स्मृतिकारोंने स्त्रियोंके लिये विवाहकी विधिको ही वैदिक संस्कार, पति ही गुरु होनेके कारण पतिगृहमें निवास ही गुरुकुलवास और गृहकार्यको ही अग्निहोत्र बताया है ।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥
(मनु० २ । ६७)

शास्त्रमें बताये अनुसार कार्य करनेसे ही स्त्री कल्याणको प्राप्त होती है । अतएव ऊपर लिखे शास्त्रोक्त कार्य करनेके लिये स्त्रियोंको सदा तत्पर रहना चाहिये ।

साध्वी स्त्रियोंको इस बातपर भी विशेष ध्यान देना चाहिये कि घरमें किसी प्रकार कलह, लड़ाई-झगड़ा न होने पावे क्योंकि कलह साक्षात् कलियुगकी मूर्ति है । जहाँ कलह होता है वहाँ क्रोध और क्लेशकी वृद्धि होकर बड़ा अनर्थ हो जाता है । कोई-कोई तो उत्तेजित होकर कुएँमें गिरकर फाँसी लगाकर या जहर-विष खाकर कालकी ग्रास बन जाती हैं । काल, क्लेश, कल्पना, कलि इन सबकी उत्पत्ति कलहसे होती है इसलिये सुख चाहनेवाली स्त्रियोंको चाहिये कि इसको अपने घरमें प्रवेश ही नहीं होने दें । कलह धन, धर्म, गुण, शरीर और कुलको नाश करनेवाला अग्नि है । यह इस लोक और परलोकको कलङ्क लगानेवाला है । इसलिये इसका सूत्रपात होते ही प्रेमभरे विनययुक्त हितकारक सरल ठण्ढे वचनरूपी जल सींचकर इस कलह-अग्निको तुरन्त बुझानेकी चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकारका व्यवहार करनेवाली स्त्री मनुष्योंके द्वारा ही नहीं देवताओंद्वारा भी पूजनीया बन जाती है । उसे मनुष्य न समझकर देवी समझनी चाहिये ।

स्त्रियोंको जहाँतक हो सके घरका सारा काम स्वयं करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । घरके कामके लिये जहाँतक हो बाहरके

किसी स्त्री-पुरुषकी आवश्यकता न पड़े ऐसी चेष्टामें सदा रहना चाहिये। जिन घरोंमें रसोइया आदिसे रसोई और नौकर आदिसे गृहकार्य कराये जाते हैं उन घरोंकी स्त्रियाँ प्रायः कर्महीनता और निर्लज्जताको प्राप्त हो जाती हैं। उनमेंसे कोई-कोई तो अपने धर्मको भी खो बैठती हैं और अपने पीहर, ससुरालको कलङ्कित बनाकर लोक-परलोक भ्रष्ट कर लेती हैं।

स्त्रियोंको उचित है कि प्रसन्नचित्त होकर घरके कामोंमें कुशलता और घरकी सामग्रियोंकी भलीभाँति सँभाल, कम खर्च करना, धन और आय-व्ययका हिसाब रखना, अतिथि-सेवा, सन्तानकी उत्पत्ति और पालन, धर्मकार्य और सेवामें रति, सीना-पिरोना, चर्खा कातना, चक्की पीसना, झाड़ू देना, चौका-बर्तन आदि सभी काम स्वयं कर्तव्य समझ करके प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें। इससे वे इस लोकमें यश पाती हैं और परलोकमें उत्तम गतिको प्राप्त करती हैं।

तंबाकू, भाँग, मदिरादि मादक वस्तुओंका सेवन, दुर्जनोंका संसर्ग, पतिसे अलग रहना, इधर-उधर स्वतन्त्रतासे घूमना, दूसरोंके घरमें रहना, असमयमें सोना ये छः बातें स्त्रियोंके लिये मनुजीने भारी दोष बताये हैं। अतः सभी स्त्रियोंको सावधानीपूर्वक इनसे बचकर रहना चाहिये।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥

(मनु० ९। १३)

स्त्रियोंको थियेटर-सिनेमा, विवाह, सभा, समुदाय, होली आदिमें पुरुषसमाजके सामने या स्त्रियोंके समुदायमें भी गाना, बजाना, नाचना, बुरे गीत आदि कार्य नहीं करने चाहिये क्योंकि ऐसे कार्यसे उनमें कामोद्दीपन होकर उनके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना है। देवर, भानजे, जँवाई, ननदोई, बहनोई आदिके साथ एकान्तमें या समुदायमें हँसी-मसखरी, अश्लील बात करना महापाप है। स्त्रियोंको अपने पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका दर्शन, स्पर्श, भाषण, चिन्तन और उसके साथ एकान्तवासादि भी नहीं करना चाहिये। विशेष आवश्यकता हो तो नीची नजर रखकर उनको पिता और भाईके समान समझकर किसी अच्छी स्त्री, बालक आदिको साथमें रखकर पवित्र बातें करनेमें दोष नहीं है। किन्तु अकेले पुरुषके साथ एकान्तमें कभी वार्तालाप या वास नहीं करना चाहिये, चाहे पिता, भाई, पुत्र ही क्यों न हों; क्योंकि इन्द्रियोंका समुदाय बलवान् है, वह बुद्धिमानोंको भी मोहित कर देता है। अतः सदा सावधान रहना चाहिये।

समता

समता ही अमृत है और विषमता ही विष है। इसलिये सबके साथ समताका ही व्यवहार करना चाहिये।

जो चीज तुम अपने लिये उत्तम समझती हो उसको सबके लिये उत्तम समझकर जिसको देना उचित समझो उसको भेद-भाव न रखकर समभावसे दो। जो चीज तुम अपने लिये खराब समझती हो उसको सबके लिये खराब समझकर किसीको भी कभी मत दो। घरमें बने या बाहरसे आये हुए भोजनादि

पदार्थ भेद-भावको छोड़कर सबको समभावसे प्रदान करो यानी जो भोजनादिकी सामग्री तुम अपने पतिको प्रदान करती हो वही आये हुए अतिथि और नौकरादिको भी दो ।

चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि बुरे कर्मोंका कतई त्याग करके दान, तप, तीर्थ, व्रत, सेवा और गृहकार्य आदि उत्तम कर्मोंको फल और आसक्तिको त्यागकर निष्कामभावसे अभिमानरहित होकर एवं कर्तव्य समझकर करो । गृहकार्यके बनने-बिगड़नेमें हर्ष-शोक मत करो । संयोगसे अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ एवं सुख-दुःखादिके प्राप्त होनेपर उनमें भी राग-द्वेष मत करो । उसको ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करो । इस प्रकार करनेसे समत्वभावकी प्राप्ति होती है और समता ही अमृत है । निन्दा-स्तुति और मान-अपमान तथा वैरी और मित्रमें भी समबुद्धि रक्खो । इस प्रकार करनेसे सारे पाप, क्लेश और दुःखोंसे छूटकर परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है । मुक्त पुरुषके लक्षणोंको बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला

और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष, गुणातीत कहा जाता है।'

ऊपर निष्कामभावसे कर्म करनेके द्वारा कल्याणके प्राप्त होनेकी कुछ बातें कहीं।

उपासना

अब ईश्वरकी उपासनाके विषयमें संक्षेपसे लिखा जाता है। ईश्वरकी भक्तिमें सभीका अधिकार है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९।३२)

'क्योंकि हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

अतएव सभी स्त्रियोंको निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये। ईश्वरकी शरण एवं अनन्य भक्तिसे उसका दर्शन, उसके तत्त्वका ज्ञान और उसकी प्राप्ति हो सकती है (गीता अ० ११।५४)। अनन्य भक्ति यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये (सब कुछ मेरा समझता हुआ) यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

ईश्वरकी अनन्य भक्ति—अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण वस्तुतः एक ही बात है। भगवान्ने अर्जुनके प्रति शरणके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेम-सहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरे स्वरूपका मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला

हो और मुझ सर्वशक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतएव स्त्रियोंको प्रातःकाल उठकर ईश्वर-स्मरण करके शौच-स्नान आदि क्रियाओंसे निपटकर पीहरमें माता-पिता आदिकी, ससुरालमें सास-ससुर, पति आदि बड़ोंकी पूजा, उनको नमस्कार और उनकी सेवाका कार्य करना चाहिये। तदनन्तर ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। एकान्त स्थानमें आसनपर बैठकर पवित्र होकर करुणा और प्रेमभावपूर्वक प्रफुल्लित मनसे भगवान्‌की स्तुति करके फिर उस सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्माका ध्यान करना चाहिये। यदि साकार भगवान्‌में प्रेम हो तो करुणाभावसे उनका आह्वान करके प्रभाव और गुणोंके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। निराकार-सहित साकारका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। परन्तु निराकारके तत्त्वको न समझे तो केवल साकारका ही ध्यान किया जा सकता है। फिर ध्यानावस्थामें भगवान्‌को आये हुए समझकर प्रेममें मुग्ध हो जाना चाहिये। बादमें सावधान होनेपर भगवान्‌की मानसिक यानी मनसे सारी सामग्रियोंको रचकर पूजा करनी चाहिये।* मनसे ही भगवान्‌के भोग लगाकर उनकी

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तकमें मानसिक पूजाकी विधि लिखी है।

आरती करनी चाहिये। फिर मन-ही-मन भगवान्‌की स्तुति गाकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेके लिये और उनके साक्षात् दर्शनके लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। उसके बाद गुण और प्रभाव-सहित भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करते हुए भगवान्‌की आज्ञा-नुसार ही गृह-कार्य करनेको आदत डालनी चाहिये, क्योंकि पीसते, पोते, चौका-बरतन करते अर्थात् प्रत्येक काम करते समय उनके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी ईश्वरभक्ति है।

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादने अपने पिताके प्रति इस भक्तिके
नवधा भक्ति लक्षण बतलाते हुए नौ भेद कहे हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीलाओंको प्रभावसहित प्रेमपूर्वक राजा परीक्षितके अनुसार सुननेका नाम श्रवणभक्ति, और शुकदेव, नारदादिकी भाँति वाणीसे उच्चारण करने या दूसरोंके प्रति कहनेका नाम कीर्तनभक्ति, ध्रुव-प्रह्लादादिकी तरह मनसे चिन्तन करनेका नाम स्मरणभक्ति है।

उस प्रभुके चरणोंकी भरत और लक्ष्मीके अनुसार सेवा करनेका नाम पादसेवनभक्ति है और उसके स्वरूपकी मानसिक या पार्थिव धातु आदिकी मूर्तिकी गुण और प्रभावसहित राजा पृथु और अम्बरीषके माफिक पूजा करना अर्चनभक्ति है।

अक्रूर एवं भीष्मादिकी भाँति नमस्कार और प्रणाम करना वन्दनभक्ति है ।

लक्ष्मण और हनुमान् आदिकी भाँति दासभावसे आज्ञाका पालन करना दास्यभक्ति है ।

अर्जुन और उद्धवकी तरह सखाभावसे उसके अनुकूल चलना सख्यभक्ति है ।

राजा बलिकी भाँति सर्वस्व अर्पण कर देना आत्मनिवेदनभक्ति है ।

इन ऊपर बतलायी हुई नव प्रकारकी भक्तियोंमेंसे एकको भी अच्छी प्रकार धारण करनेसे प्रायः सभी भक्तियाँ अपने-आप आ जाती हैं इसलिये इनमेंसे एकका भी भली प्रकार पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है । यह भक्तिका विषय स्थानसङ्कोचके कारण केवल सगुण-साकारके विषयमें ही बहुत संक्षेपसे बतलाया गया है । सभी स्त्रियोंको अपना जो इष्ट हो उस देवी या देवको परमेश्वर समझकर उपर्युक्त भक्ति निष्काम-प्रेमभावसे सभी अङ्गोंसहित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार करनेसे अपने इष्टदेवका साक्षात्कार होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है ।

कुरीतियाँ

स्त्रियोंमें स्वाभाविक ही बहुत-सी कुरीतियाँ हैं, उनका त्याग कर देना चाहिये । जैसे किसी स्त्रीके सन्तान नहीं होती है तो वह सन्तानके लिये ठगोंके पंजेमें पड़कर निषिद्ध चीजोंका भक्षण एवं जादू-टोना

आदि अनेक निकृष्ट क्रियाओंका सम्पादन कर लिया करती है। किसीका बालक बीमार होता है तो वह मूर्ख स्त्रियोंके बहकानेसे मूर्खताके वश हो भंगीसे झाड़ा दिवाना तथा किसी नीच यवनादि विधर्मी पुरुषसे थुथकारा डलवाना यानी थुकाना और निषिद्ध चीजोंका खिलाना-पिलाना आदि अनेक लोक-परलोकको नाश करनेवाली क्रियाएँ कर लिया करती है; किन्तु इससे न तो लड़का हो पैदा होता है और न इससे लड़केकी बीमारी ही मिटती है। तथा लड़कोंकी रक्षाके लिये देवी-देवता, जात-झडूला भी बोलती-करती हैं किन्तु यह विचारनेका विषय है, सिरके बाल देवताको चढ़ाना न तो धर्म है और न कोई इससे देवी-देवता ही खुश होते हैं। यह केवल स्त्रियोंकी मूर्खता है। आप बताइये, यदि कोई मनुष्य कहे कि आप हमारा उपकार करें तो हम उसके बदलेमें आपके घरपर जाकर बाल बनवावेंगे तो क्या आप हड्डीके समान अपवित्र बालोंको अपने घरपर बिखेरने या डालनेसे खुश हो सकते हैं? यदि नहीं तो फिर देवता भी इससे कैसे खुश होंगे? झडूला आदि षोडश-संस्कारोंमेंसे चूडाकर्म नामक एक संस्कार है, इसकी शास्त्रोंमें जो विधि लिखी है उसके अनुसार ही इसका सम्पादन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्णवेध-संस्कार जो आजकल मनोकल्पित रीतिसे 'प्रयोजन'के नामपर प्रचलित है वह भी शास्त्रविधिके अनुसार होना चाहिये। और भी संस्कार यथाशक्ति शास्त्रोक्त रीति-अनुसार करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। शास्त्रोक्त सारे देवी-देवताओंकी पूजा शास्त्रानुकूल निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो सबसे उत्तम समझी जा सकती है।

बड़े शोककी बात है कि बहुत-से शास्त्रोक्त कर्म भोली-भाली स्त्रियोंने नष्ट करके अनेक कुरीतियाँ चला दी हैं। बहुत-सी नयी कल्पित बातें भी खड़ी कर दी हैं, जैसे विवाहमें टूँटिया करना, चाक पूजना, जूआ खेलना, गन्दे गीत गाना इत्यादि। इनका सुधार करना चाहिये।

अपने घरवाला कोई किसी मृतकके साथ श्मशान जाकर आता है तो कुछ भोली स्त्रियाँ उसको एक दिनके लिये अपने घरमें नहीं आने देतीं। यदि आने देती हैं तो दूध या मिठाई खानेको नहीं देतीं। उनको यह वहम होता है कि ऐसा करनेसे इसके प्रेत लग जायगा। इस प्रकारका मूर्खतापूर्ण व्यवहार तो अपने घरवालोंके साथ करती हैं। यदि कोई दूसरे घरका आदमी मृतक-पर मुण्डन करवाकर कार्यवश घरमें आना चाहता है और घरमें कोई बालक उत्पन्न हुआ होता है या कोई बीमार होता है तो उसका घरमें आना हानिकर समझती हैं। इस तरह बात-बातमें अनेक प्रकारके वहमोंका भूत घुस गया है। इसे हम कहाँतक लिखकर निवेदन करें। अतएव माता और बहिनोंको इन कुरीतियोंको हटानेके लिये जी-तोड़ परिश्रम करना चाहिये।

बहुत-सी स्त्रियाँ तो अपने बालकोंको यज्ञोपवीत भी नहीं दिलातीं। वे कह दिया करती हैं कि इसके चाचेने जनेऊ ली थी वह दो वर्ष बाद मर गया। भला, बताइये क्या यह जनेऊका फल हो सकता है? जनेऊ लेनेसे तो अच्छी शिक्षा ही मिलती है। जिसके पालनसे मनुष्य पवित्र और दीर्घजीवी हो सकता है।

यज्ञोपवीत एक उत्तम संस्कार है। इसलिये त्रैवर्णिकोंको अपने बालकोंको यज्ञोपवीत अवश्य दिलाना चाहिये।

पर्दा

स्त्रियोंके लिये पर्दा रखना एक लज्जाका अङ्ग है। बहुत-से भाईलोग इसको स्वास्थ्य, सभ्यता और उन्नतिमें बाधक समझकर हटानेकी जी-तोड़ कोशिश करते हैं, यह समझना उनकी दृष्टिमें ही ठीक हो सकता है किन्तु वास्तवमें पर्देकी प्रथा अच्छी है और पूर्वकालसे चली आती है। राजपूताना आदि देशोंमें जहाँ पर्देकी प्रथा है, वहाँकी स्त्रियोंके स्वास्थ्यको देखते हुए कौन कह सकता है कि पर्देसे स्वास्थ्य बिगड़ता है। स्वास्थ्य बिगड़नेमें स्त्रियोंकी अकर्मण्यता प्रधान है, न कि पर्दा। स्त्रियोंकी सभ्यता तो लज्जामें है न कि पर्दा उठाकर पुरुषोंके साथ घूमने-फिरने, मोटर आदिमें बैठने या थियेटर-सिनेमा आदिमें जानेमें। जो स्त्रियाँ सदासे पर्दा रखती आयी हैं उनमें उसके त्यागसे निर्लज्जताकी वृद्धि होकर, व्यभिचार आदि दोष आकर उनके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना है जो महान् अवनति या पतन है।

कन्याओंके कर्तव्य

कन्याओंको प्रातःकाल उठकर ईश्वरस्मरण, शौच, स्नान करनेके बाद माता, पिता, भाई, भौजाई आदि घरके पूज्य लोगोंको नमस्कार-प्रणाम आदि करना एवं उनसे उत्तम विद्या पढ़नी और उत्तम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनकी आज्ञाका पालन तथा उनकी सेवा, सीना-पिरोना, कातना आदि गृहकार्य और

शिल्पकार्य सीखना तथा गृहशुश्रूषा करनी चाहिये । ससुरालमें जाकर सबके साथ कैसे सद्‌बर्ताव करना, सेवा करना और शुश्रूषा करना इन सारी बातोंकी शिक्षा अपने घरवालोंके उपदेश और चरित्रोंद्वारा ग्रहण करनी चाहिये । बुरी लड़की-लड़कोंका संग न करना एवं किसीके साथ मार-पीट, लड़ाई-झगड़ा, गाली-गुप्ता एवं दुर्व्यवहार न करना और लड़कोंके साथ खेलना-कूदना भी नहीं चाहिये । उत्तम आचरण और सुशील स्वभाववाली स्त्रियों और लड़कियोंका साथ करना चाहिये । व्यर्थ बकवाद, दूसरोंकी निन्दा, व्यर्थ चेष्टा, चाय, भाँग आदि नशीली वस्तुओंका सेवन इत्यादि बुरे व्यसनोंकी आदत नहीं डालनी चाहिये । बिस्कुट, बर्फ, सोडावाटर, लेमोनेड, विलायती औषध आदिका सेवन नहीं करना चाहिये, विलायती औषधमें लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, चर्बी, खून और अण्डा आदितकका प्रायः ही मिश्रण रहता है । इससे धर्म, धन और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है । खट्टा, चरपरा, पान, सुपारी आदिकी भी आदत नहीं डालनी चाहिये । बालकपनसे ही हाथके बुने देशी कपड़े पहननेकी एवं काँच आदिकी पवित्र चूड़ियाँ पहननेकी आदत डालनी चाहिये । विलायती और मीलके बुने कपड़े और लाख तथा हाथी-दाँतकी बनी चूड़ियोंका कभी व्यवहार नहीं करना चाहिये । लाखकी चूड़ियोंमें बहुत हिंसा होती है और वे अपवित्र भी हैं ।

खाने, पीने और खेल-कूद आदिमें मन न लगाकर बुद्धि, ज्ञान और विवेक आदिकी वृद्धिके लिये विद्या एवं धार्मिक पुस्तकें पढ़ने, सुनने और बाँचनेका अभ्यास करना चाहिये । शरीर, कपड़े,

घरकी पवित्रताके लिये सफाई रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये । मनको पवित्र बनानेके लिये अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य आदि उत्तम आचरणोंका पालन करना चाहिये । शरीरमें बल बढ़ानेके लिये बरतन आदिका मलना, घरको झाड़ना-बुहारना, आटा पीसना, चावल कूटना, जल भरना, बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि परिश्रमके काम करने चाहिये । कन्याओंके लिये यही उत्तम व्यायाम है, इनसे शरीरमें बलकी वृद्धि एवं मनकी पवित्रता भी होती है । शारीरिक और मानसिक कष्ट सहने आदिकी आदत डालनी चाहिये । पूर्वमें बताये हुए पुरुषोंके और स्त्री-जातिके सामान्य धर्मोंको सीखनेकी भी कोशिश करनी चाहिये । बड़ों और दूसरोंके कहे हुए कठोर वचनोंको भी शिक्षा मानकर प्रसन्नतासे सुनना और उनमें शिक्षा हो सो ग्रहण करनी चाहिये । दूसरोंके कहे हुए कड़वे और अप्रिय वचनोंमें भी हित खोजना चाहिये । देवी और देवताओंका पूजन, साधु-महात्मा, ज्ञानी और ब्राह्मणोंका सदैव सत्कार करना चाहिये । ऊपर बताये हुए सारे काम ईश्वरको याद रखते हुए ही करनेका स्वभाव बनाना चाहिये ।

अपने भाई-बहिन आदिके साथ प्रेमपूर्वक रहने एवं उनका प्यार करने और लालन-पालन करनेकी सभी बातें सीखनी और करनी चाहिये जिससे आगे चलकर अपनी सन्तानका भी पालन कर सके ।

कन्याको उचित है कि पिता या पिताकी सलाहसे भ्राता एवं पिताका देहान्त होनेके उपरान्त केवल भ्राता जिस पुरुषके

साथ विवाह कर दे उसकी आजीवन सेवा एवं आज्ञाका पालन करे और पतिका देहान्त होनेके बाद भी उसके बताये हुए व्रतका कभी उल्लंघन न करे। क्योंकि मनु आदि महर्षियोंने कन्याके धर्म बतलाये हैं—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(मनु० ५। १५१)

इस स्त्रीको उसका पिता अथवा पिताकी अनुमतिसे भाई जिस पुरुषके लिये दे दें उसके जीवनपर्यन्त उसकी भलीभाँति सेवा करनी चाहिये और मरनेके बाद भी उसके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये।

विवाहिता स्त्रियोंके कर्तव्य

विवाहिता स्त्रीके लिये पातिव्रतधर्मके समान कुछ भी नहीं है इसलिये मनसा-वाचा-कर्मणा पतिके सेवापरायण होना चाहिये। स्त्रीके लिये पतिपरायणता ही मुख्य धर्म है। इसके सिवा सब धर्म गौण हैं। महर्षि मनुने साफ लिखा है कि स्त्रियोंको पतिकी आज्ञा बिना यज्ञ, व्रत, उपवास आदि कुछ भी न करने चाहिये। स्त्री केवल पतिकी सेवा-शुश्रूषासे ही उत्तम गति पाती है एवं स्वर्गलोकमें देवतालोग भी उसकी महिमा गाते हैं।*

---

* नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५। १५५)

स्त्रियोंको पतिसे अलग यज्ञ, व्रत और उपवासका अधिकार नहीं है; क्योंकि वह जो पतिकी सेवा करती है उसीसे स्वर्गमें आदर पाती है।

जो स्त्री पतिकी आज्ञा बिना व्रत, उपवास आदि करती है वह अपने पतिकी आयुको हरती है और स्वयं नरकमें जाती है।*

इसलिये पतिकी आज्ञा विना यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि भी नहीं करने चाहिये, दूसरे लौकिक कर्मोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ है, पति ही व्रत है, पति ही देवता एवं परम पूजनीय गुरु भी पति ही हैं। ऐसा होते हुए भी जो स्त्रियाँ दूसरेको गुरु बनाती हैं वे घोर नरकको प्राप्त होती हैं। जो लोग परस्त्रियोंके गुरु बनते हैं याने परस्त्रियोंको अपनी चेली बनाते हैं वे ठग हैं। वे इस पापके कारण घोर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। आजकल बहुत-से लोग साधु-महन्त और भक्तोंके वेशमें बिना गुरुके मुक्ति नहीं होती ऐसा भ्रम फैलाकर भोली-भाली स्त्रियोंको मुक्तिका झूठा प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका हरण करते हैं और घोर नरकके भागी बनते हैं। उन चेली बनानेवाले गुरुओंसे माताओं और बहिनोंको खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसे पुरुषोंका मुख देखना भी धर्म नहीं है। मनु आदि शास्त्रकारों-ने स्त्रियोंकी मुक्ति तो केवल पातिव्रतसे ही बतलायी है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥

---

* पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति॥

जो स्त्री पतिके जीवित रहते उपवास-व्रतका आचरण करती है वह पतिकी आयु क्षीण करती है और अन्तमें नरकमें पड़ती है।

मन वच कर्म पतिहि सेवकाई । तियहि न यहि सम आन उपाई ॥
बिनु श्रम नारि परमगति लहई । पतिव्रत धर्म छाँडि छल गहई ॥

वही स्त्री पतिव्रता है जो अपने मनसे पतिका हित-चिन्तन करती है, वाणीसे सत्य, प्रिय और हितके वचन बोलती है, शरीरसे उसकी सेवा एवं आज्ञा-पालन करती है । जो पतिव्रता होती है वह अपने पतिकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी आचरण नहीं करती । वह स्त्री पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होती है और उसीको लोग साध्वी कहते हैं ।*

स्त्रियोंके लिये इस लोक और परलोकमें पति ही नित्य सुखका देनेवाला है ।†

---

* पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥
(मनु० ५ । १६५)

जो स्त्री मन, वाणी और शरीरको वशमें रखती हुई पतिके [अनुकूल आचरण करती है] प्रतिकूल आचरण कभी नहीं करती वह [मृत्युके पश्चात्] पतिलोकको प्राप्त होती है और सज्जन पुरुष उसे साध्वी (पतिव्रता) कहते हैं ।

† अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥
(मनु० ५ । १५३)

मन्त्रोंद्वारा संस्कार करनेवाला पति स्त्रीको ऋतुकालमें या अन्य समय एवं इस लोक और परलोकमें सदा ही सुख देता है ।

इसलिये स्त्रियोंको किञ्चित्मात्र भी पतिके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये। जो नारी ऐसा करती है यानी पतिकी इच्छा और आज्ञाके विरुद्ध चलती है उसको इस लोकमें निन्दा और मरनेपर नीच गतिकी प्राप्ति होती है।

पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुणाई॥

इस प्रकार पतिकी इच्छाके विरुद्ध चलनेवालीकी ही यह गति लिखी है फिर जो नारी दूसरे पुरुषोंके साथ रमण करती है उसकी घोर दुर्गति होती है इसमें तो बात ही क्या है?

पतिवंचक परपतिरति करही। रौरव नरक कल्प शत परही॥

अतः स्त्रियोंको जाग्रत्‌की तो बात ही क्या स्वप्नमें भी पर-पुरुषका चिन्तन नहीं करना चाहिये। वही उत्तम पतिव्रता है जिसके दिलमें ऐसा भाव है--

उत्तमके अस बस मनमाहीं। स्वप्नेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

पति यदि कामी हो, शील एवं गुणोंसे रहित हो तो भी साध्वी यानी पतिव्रताको ईश्वरके समान मानकर उसकी सदा सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
(मनु० ५। १५४)

अपमान तो अपने पतिका कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि जो नारी अपने पतिका अपमान करती है वह परलोकमें जाकर महान् दुःखोंको भोगती है।

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना । अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना । नारि पाव यमपुर दुख नाना ॥

साध्वी स्त्रियोंको पुरुषों और स्त्रियोंके जो सामान्य धर्म बतलाये हैं उनका भी पालन करना चाहिये । पातिव्रतधर्मके रहस्यको जाननेवाली स्त्रियोंको अपने पतिसे बड़ों—सास, ससुरादिकी पतिके समान ही सेवा-पूजा और आज्ञापालन करनी चाहिये क्योंकि वे पतिके भी पति हैं । पातिव्रतधर्मके आदर्शस्वरूप सीता-सावित्री आदिने ऐसा ही किया है । जब सावित्री अपने पतिके साथ वनमें गयी तब पतिकी आज्ञा होनेपर भी सास-ससुरकी आज्ञा लेकर ही गयी थी । श्रीसीताजी भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ माता कौसल्यासे आज्ञा, शिक्षा और आशीर्वाद लेकर ही गयी थीं ।

साध्वी स्त्रियोंको उचित है कि अपने लड़के-लड़कियोंको आचरण एवं वाणीद्वारा उत्तम शिक्षा दें । माता-पिता जो आचरण करते हैं बालकोंपर उनका विशेष असर पड़ता है । अतः स्त्रियोंको झूठ-कपट आदि दुराचार एवं काम, क्रोध आदि दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग करके उत्तम आचरण करने चाहिये । बहुत-सी स्त्रियाँ लड़कियोंको 'राँड' और लड़कोंको 'तू मर जा' 'तेरा सत्यानाश हो जाय' इत्यादि कटु और दुर्वचन बोलती हैं एवं उनको भुलानेके लिये 'मैं तुझे अमुक चीज मँगवा दूँगी' इत्यादि झूठा विश्वास दिलाती हैं और 'बिल्ली आयी' 'हाऊ आया' इत्यादि झूठा भय दिखाती हैं । इनसे बहुत नुकसान होता है अतएव ऐसी बातोंसे स्त्रियोंको बचना चाहिये । बालकका दिल कोमल होता है अतः

उसमें ये बातें जम जाती हैं और वह झूठ बोलना, धोखा देना आदि सीख जाता है एवं अत्यन्त भीरु और दीन बन जाता है । बालकोंके दिलमें वीरता, धीरता, गम्भीरता उत्पन्न हो ऐसे ओज और तेजसे भरे हुए सच्चे वचनोंद्वारा उनको आदेश देना चाहिये । उनमें बुद्धि और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सत्शास्त्रकी शिक्षा देनी चाहिये । बालकोंको गाली आदि नहीं देनी चाहिये । क्योंकि गाली देना उनको गाली सिखाना है । अश्लील गन्दे-कड़वे अपशब्दोंका प्रयोग भी नहीं करना चाहिये । सङ्गका बहुत असर पड़ता है । पशु-पक्षी भी सङ्गके प्रभावसे सुशिक्षित और कुशिक्षित हो जाते हैं । सुना जाता है कि मण्डन मिश्रके द्वारपर रहनेवाले पक्षी भी शास्त्रके वचन बोला करते थे । देखा भी जाता है कि गाली बकनेवालोंके पास रहनेवाले पक्षी भी गाली बका करते हैं । अतः सदा सत्य, प्रिय, सुन्दर और मधुर हितकर वचन ही बहुत प्रेमसे धीमे स्वरसे और शान्तिसे बोलने चाहिये । बालकोंके सम्मुख पतिके साथ हँसी-मजाक एवं एक शय्यापर सोना-बैठना कभी नहीं करना चाहिये । जो स्त्रियाँ ऐसा करती हैं वे अपने बालकोंको व्यभिचारकी शिक्षा देती हैं ।

परपुरुषका दर्शन, स्पर्श, एकान्तवास एवं उसके चित्रका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये । लोभ, मोह, शोक, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदिसे सदा बचकर रहना चाहिये । और उत्तम गुण एवं आचरणोंके लिये गीता, रामायण, भागवत, महाभारत एवं सती साध्वी स्त्रियोंके चरित्र पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये और उनके अनुसार ही बालकोंको शिक्षा देनी चाहिये ।

बच्चोंको खिलाने-पिलाने इत्यादिमें भी अच्छी शिक्षा देनी चाहिये। मदालसाने अपने बालकोंको बाल्यावस्थामें ही ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा देकर उन्हें उच्च श्रेणीके बना दिया था। बच्चे बुरे बालकों एवं बुरे स्त्री-पुरुषोंका सङ्ग करके कुशिक्षा ग्रहण न कर लें, इसके लिये माता-पिताको विशेष ध्यान रखना चाहिये। हाथके बुने स्वदेशी वस्त्र स्वयं पहनने और बालकोंको भी पहनाने चाहिये। बच्चोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनका प्रेम शृङ्गारादिमें न होकर ईश्वर और उत्तम शिक्षा आदिमें हो।

बालकोंको गहने पहनाकर नहीं सजाना चाहिये। इससे स्वास्थ्यकी हानि एवं कहीं-कहीं प्राणोंकी भी जोखम हो जाती है। बल बढ़नेके लिये व्यायाम और बुद्धिकी वृद्धिके लिये विद्या एवं उत्तम शिक्षा देनी चाहिये। थियेटर-सिनेमा आदि देखनेका व्यसन और बीड़ी, सिग्रेट, तमाखू, भाँग, गाँजा सुलफादि मादक वस्तुओंका सेवन करनेकी आदत न पड़ जाय इसके लिये भी माता-पिताको ध्यान रखना चाहिये। लड़की और लड़केके खान-पान, लाड़-प्यार और व्यवहारमें भेदभाव नहीं रखना चाहिये। प्रायः स्त्रियाँ खान-पान, लाड़-प्यार और दुःख-सुख, मरण आदिमें भी लड़कोंके साथ जैसा व्यवहार करती हैं, लड़कियोंके साथ वैसा नहीं करतीं। उनका अपमान करती हैं। जो स्त्रियाँ इस प्रकार अपने ही बालकोंमें विषमताका व्यवहार करती हैं उनसे समताकी आशा कैसे की जा सकती है? इस प्रकारकी विषमतासे इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें दुर्गति होती है। अतः बालकोंके साथ समताका ही व्यवहार रखना चाहिये।

बहुत-सी स्त्रियाँ भूत, प्रेत, देवता, पीर आदिका किसीमें आवेश समझकर भय करने लग जाती हैं। यह प्रायः फजूल बात है। ऐसी बातपर कभी वहम—विश्वास नहीं करना चाहिये। इस प्रकारकी बातें अधिकांशमें तो हिस्टीरिया आदिकी बीमारीसे होती हैं। बहुत-सी जगह जान-बूझकर ऐसा चरित्र किया जाता है। कभी-कभी वहम या भयसे भी आवेश-सा आ जाता है। अतः इनपर विश्वास नहीं करना चाहिये। यह सब वाहियात बातें हैं। इसलिये स्त्रियोंको जादू-टोना, आखा दिखाना, झाड़-फूँक, मन्त्र आदि अपने या अपने घरवालोंपर नहीं करवाने चाहिये एवं ऐसा करनेवाली स्त्रियोंका सङ्ग भी नहीं करना चाहिये।

वेश्या, व्यभिचारिणी, लड़ाई-झगड़ा करनेवाली, निर्लज्ज और दुष्टा स्त्रियोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। परन्तु उनमें घृणा और द्वेष भी नहीं करना चाहिये। उनके अवगुणोंसे ही घृणा करनी चाहिये। बड़ोंकी, दुखियोंकी और घरपर आये हुए अतिथियोंकी एवं अनाथोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये।

यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, देवपूजन आदि पतिके साथ उसकी आज्ञाके अनुसार उसके सन्तोषके लिये अनुगामिनी होकर ही करें, स्वतन्त्र होकर नहीं।

पतिका जो इष्ट है वही स्त्रीका भी इष्ट है अतः पतिके बताये हुए इष्टदेव परमात्माके नामका जप और रूपका ध्यान करना चाहिये। स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु है। यदि पतिको ईश्वरकी भक्ति अच्छी न लगती हो तो पिताके घरसे प्राप्त हुई शिक्षाके

अनुसार भी ईश्वरकी भक्ति बाहरी भजन, सत्संग, कीर्तन आदि न करके गुप्तरूपसे मनमें ही करें। भक्तिका मनसे ही विशेष सम्बन्ध होनेके कारण यह जहाँतक बन सके गुप्तरूपसे ही करनी चाहिये क्योंकि गुप्तरूपसे की हुई भक्ति विशेष महत्त्वकी होती है।

पति जो कुछ भी कहे उसका अक्षरशः पालन करे किन्तु जिस आज्ञाके पालनसे पति नरकका भागी हो उसका पालन नहीं करना चाहिये। जैसे पति काम, क्रोध, लोभ, मोहवश चोरी या किसीके साथ व्यभिचार करने, किसीको विष पिलाने, जानसे मारने, भ्रूणहत्या, गोहत्या आदि घोर पाप करनेके लिये कहे तो वह नहीं करे। ऐसी आज्ञाका पालन न करनेसे अपराध भी समझा जाय तो भी पतिको नरकसे बचानेके लिये उसका पालन नहीं करना चाहिये, जिस कामसे पतिका परम हित हो वह काम स्वार्थ छोड़कर करनेकी सदा चेष्टा रखनी चाहिये।

विधवा स्त्रियोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि अपने धर्ममें रहनेवाली विधवा स्त्री देवीके समान है। उसकी सेवा-शुश्रूषा करने, उसके साथ प्रेम करनेसे स्त्री इस लोकमें सुख और परलोकमें उत्तम गति पाती है। जो स्त्री विधवाको सताती है वह उसकी हायसे इस लोकमें दुखिया हो जाती है और मरनेपर नरकमें जाती है।

ऊपर बताये हुए पातिव्रतधर्मको स्वार्थ छोड़कर पालन करनेवाली साध्वी स्त्री इस लोकमें परमशान्ति एवं परम आनन्दको प्राप्त होती है और मरनेके बाद परमगतिको प्राप्त होती है।

विधवाओंके कर्तव्य

पतिके शान्त होनेके बाद विधवा स्त्रीको उचित है कि जिस प्रकार पतिकी जीवित अवस्थामें उसके मनके अनुकूल आचरण करती थी उसी प्रकार उसके मरनेपर भी करना चाहिये। धर्मका ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री पतिके मरनेपर भी साध्वी कहलाती है और वह उत्तम गतिको प्राप्त होती है। वह पवित्र पुष्प, मूल और फलोंद्वारा अपने शरीरका निर्वाह करती हुई पवित्रताके साथ अपना जीवन बितावे। परपुरुषके दर्शन, भाषण, चिन्तनकी बात तो दूर रही उसका नाम भी उच्चारण न करे।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥

(मनु० ५। १५७-१५८)

पवित्र पुष्प-मूल-फलोंके द्वारा निर्वाह करते हुए अपनी देहको दुर्बल भले ही कर दे, परन्तु पतिके मरनेपर दूसरेका नाम भी न ले। पतिव्रता स्त्रियोंके सर्वोत्तम धर्मको चाहनेवाली विधवा स्त्री मरणपर्यन्त क्षमायुक्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यसे रहे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई विधवा स्त्री साध्वी पतिव्रता स्त्रीके अनुसार पतिके उत्तम लोकोंको प्राप्त होती है। केवल फल-मूलादिसे काम न चले तो साधारण शाक-अन्नद्वारा एक समय भोजन करके जीवन धारण करे। यदि ऐसा करके

न रहा जाय तो दोनों समय भी हल्का और अल्पाहार कर ले। किन्तु मादक और अपवित्र एवं कामोद्दीपक पदार्थोंका कभी सेवन न करे तथा घृत, दूध, चीनी, मसाला आदिका भी जहाँतक हो त्याग करे क्योंकि ये भी उत्तेजक हैं। कर्तव्य समझकर निष्काम-भावसे पालन किया हुआ धर्म परमगतिको प्राप्त कराता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

इस निष्कामकर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिये इस निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।

अतः विधवा स्त्रियोंको निष्कामभावसे पतिव्रता स्त्रियोंकी भाँति पतिके मरनेके बादमें भी पतिको जिस कार्यमें सन्तोष होता था वही कार्य करके अपना काल व्यतीत करना चाहिये। वर्तमान समयमें कई भाई जिनको शास्त्रका अनुभव नहीं है विधवा स्त्रियोंको फुसलाकर उनका दूसरा विवाह करवा देते हैं किन्तु शास्त्रोंमें कहीं विधवाविवाहकी विधि नहीं है। मनुजी कहते हैं—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥

(मनु० ९।६५)

वैवाहिक मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगका विधान नहीं किया

गया है, और विवाह-संस्कारकी विधिमें कहीं विधवाका पुनर्विवाह करना भी नहीं बताया गया है।

क्योंकि पिता तो कन्यादान दे चुका अतः उसका अब फिर दान देनेका अधिकार नहीं और पति मर चुका ऐसी अवस्थामें कौन किसको दान दे ? इसलिये शास्त्रकारोंने इसका घोर निषेध करते हुए कहा है कि कन्याका दान एक बार ही होता है।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(मनु० ९।४७)

पिताके धनका भाग एक ही बार मिलता है, कन्यादान एक ही बार किया जाता है, किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा एक ही बार की जाती है इस तरह सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार हुआ करते हैं।

असलमें तो स्त्री-पुरुषोंके लिये आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करना ही सर्वोत्तम है परन्तु ऐसा होना असम्भव-सा है। इसलिये शास्त्रकारोंने विवाह करनेकी आज्ञा दी है। किन्तु साथमें यह भी आज्ञा दी है कि जो एक सन्तान उत्पन्न होनेके बाद आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह भी अत्युत्तम है। इस व्यवस्थाको देखते विधवाविवाहकी तो बात भी नहीं चलायी जा सकती। अतएव जिस स्त्रीका पति और जिस पतिकी स्त्री शान्त हो जाय उनको तो ब्रह्मचर्यसे ही रहना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला और परम-

शान्ति एवं आनन्द देनेवाला है। जो लोग विधवाओंको विषय-सुखका प्रलोभन दिखाकर उनके मनको खराब करते हैं वे वास्तवमें उनकी आत्माका पतन करनेवाले हैं अतएव उन लोगोंकी बातोंपर अपना कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंको कभी ध्यान नहीं देना चाहिये।

जो स्त्री ईश्वरके रहस्यको जानती है वह पतिकी मृत्युपर भी दुःखित नहीं होती क्योंकि वह समझती है कि ईश्वर जो कुछ करता है वह भलेके लिये ही करता है। वह पतिकी मृत्यु-सरीखे शोकमें भी ईश्वरकी दयाका दर्शन करती रहती है। भारी पापका फल पतिकी मृत्यु है और पापके फलके उपभोगसे पाप शान्त होता है। ईश्वरने भारी पापसे मुक्त होनेके लिये एवं भविष्यमें पापसे बचनेके लिये तथा नाशवान् क्षणभङ्गुर भोगोंसे मुक्ति पानेके लिये और अपनेमें अनन्य भक्ति करनेके लिये एवं हमारे हितके लिये ही हमें यह दण्ड देकर हमपर अनुग्रह किया है। इस प्रकार पद-पदपर दुःखमें भी ईश्वरकी दयाका अनुभव करनेवाली स्त्री ईश्वरकी अनन्य भक्ति करके परमगतिको प्राप्त हो जाती है। अतः माताओं और बहिनोंको ईश्वरके द्वारा दिये हुए दुःखोंमें भी दयाका दर्शन करते हुए उसकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

ऊपर बताये हुए पुरुष और स्त्रियोंके सामान्य धर्मका भी पालन करना एवं क्षणस्थायी इन्द्रियोंके भोगोंका त्यागकर संयमसे रहना चाहिये।

प्रातःकाल शौच, स्नान आदि करके अपने घरमें ही एकान्त स्थानमें जप, तप, पूजा, पाठ, स्तुति, ध्यान आदि ईश्वरकी भक्ति

करें। उसके बाद बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी सेवा एवं उनकी आज्ञाके अनुसार गृहकार्य ईश्वरको याद रखते हुए ही करें। माता कुन्तीकी तरह गृह-कार्य एवं बड़ोंकी सेवामें ही दिन बितावें, उसीको अपना परम धन एवं धर्म समझें। जब सेवा एवं गृहकाम-से छुट्टी पावें तब एकान्तमें बैठकर अनन्य मनसे ईश्वर-भक्तिमें लगें किन्तु एक क्षण भी निकम्मी न रहें क्योंकि उत्तम कर्म ही परम धन है, इस प्रकार निष्कामभावसे की हुई सेवाद्वारा स्त्री सारे पापोंसे छूटकर उत्तम गति पाती है।

स्त्रियोंकी दृष्टि स्वाभाविक ही पुरुषोंकी तरफ चली जाती है। इसके निरोधके लिये विशेष संयम रखना चाहिये। यदि स्वभावके दोषके कारण भूलसे भी किसी पुरुषका दर्शन हो जाय तो या तो उस दिन एक समय ही भोजन करें या ईश्वरके नामका जप और अधिक करें।

ससुरालमें या पीहरमें जहाँ कहीं रहना हो अपने घरके पुरुषोंकी आज्ञामें ही रहना चाहिये, घरके बाहर तो उनकी आज्ञा बिना जाना ही न चाहिये परन्तु घरमें रहकर भी उनकी आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिये। क्योंकि स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता सर्वथा निषिद्ध है। स्वतन्त्रतासे उनका पतन हो जाता है। जो स्त्री स्वतन्त्रतासे बाहर फिरती है वह दूषित वातावरणको पाकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

सभी स्त्रियोंको अपने पिता, भाई, पति, देवर, जेठ और पुत्रके बिना कथा, कीर्तन, भजन, सत्सङ्ग, व्याख्यान, मन्दिर,

तीर्थ और किसी धार्मिक संस्था या स्थानमें भी कभी अकेली नहीं जाना चाहिये, क्योंकि आजकल बहुत-से धार्मिक स्थानोंमें भी स्थानके अधिकारी लोग धन, गहने और धर्मका अपहरण करने, एवं और भी भारी अत्याचार करने लग गये हैं। स्त्रियोंके लिये पतिके मरनेके बाद भी पतिके अतिरिक्त गुप्त या प्रकटरूपसे गुरु बनाना, उनकी सेवा करना, दूसरे पुरुषोंका उच्छिष्ट खाना, उनकी पूजा करना, घरवालोंसे छिपकर उनको रुपये देना, उनके साथ एकान्तवास करना सर्वथा निषिद्ध है। इसलिये इन बातोंसे स्त्रियोंको विशेष सावधान रहकर बचना चाहिये। क्योंकि आजकल बहुत-सी स्त्रियाँ मन्दिर, तीर्थ, गङ्गास्नान और सत्संग आदिका बहाना लेकर असदाचरण करती हैं। इसी बहाने बाहर निकलकर उन चेली बनानेवाले ठगोंके पञ्जेमें पड़कर धन, जेवर और सतीत्वको नष्ट कर देती हैं। इस समय तो शास्त्रविपरीत बहुत-से वैश्य, शूद्र और चमारतक भी अपनी जीविका छोड़कर साधु और भक्तोंके वेशमें तीर्थों आदिपर रहकर स्त्रियोंसे सेवा करवाते हैं और गुप्तरूपसे उनसे धन मँगवाते हैं, उनके कण्ठी बाँधते हैं, उनको गुरुमन्त्र देते हैं, उनसे पैर पुजवाते हैं, उनके स्थानपर जाकर या उनको अपने स्थानपर बुलवाकर कथा, कीर्तन, सत्संगके बहाने अनेक प्रकारसे जाल बिछाकर भोली-भाली स्त्रियोंका धन और सतीत्व हरते हैं।

विधवा बहिनोंके लिये तो एकमात्र ईश्वर ही पति और ईश्वर ही गुरु है। उस परमपूजनीय सर्वव्यापी सगुण-निर्गुणरूप परमात्माकी अपने हृदयरूपी मन्दिरमें चिन्मय दिव्य मनोहर

मूर्तिका ध्यान एवं पूजन करना सर्वोत्तम है। यदि ऐसा न हो सके तो सर्वव्यापी अपने इष्टदेवके दिव्य मूर्तिकी बाहर देशमें मनसे स्थापना करके उस मानसिक दिव्य मूर्तिकी मानसिक ही पूजा करनी चाहिये। यदि ऐसा न बन पड़े तो मीराबाईकी तरह अपने घरमें ही इष्टदेव परमात्माकी धातु आदिकी मूर्ति या चित्र रखकर उसकी सेवा, पूजा करनी चाहिये और उसीपर ध्यान जमाना चाहिये।

पीहर या ससुरालमें घरमें कोई निकटवर्ती पुरुष न हो अथवा होकर भी भोजन-वस्त्रादि देकर पालन न करे तो ऐसे विपत्ति-कालमें भी उनकी सेवा करते हुए ही गृह-शिल्प या मेहनत-मजदूरी आदिद्वारा अपने शरीरका निर्वाह करें, परन्तु काम, क्रोध, लोभ और मोहके वशीभूत होकर अपने धर्म और लज्जाका कभी त्याग न करें। अपने पीहर और ससुरालवालोंको कलङ्क लगे और अपना लोक-परलोक नष्ट हो ऐसा कार्य भारी आपत्ति आ पड़नेपर भी न करें।

पलंग, रंगीन वस्त्र, आभूषण, शृङ्गार एवं ऐश-आराम, स्वाद, भोग, प्रमाद, आलस्य, दुर्गुण और दुराचारोंका एकदम त्याग कर दें। शृङ्गार करनेवाली स्त्रियोंके सङ्गका राग और द्वेषसे रहित होकर यथाशक्ति त्याग करें; क्योंकि वह ज्ञान, वैराग्य, ईश्वरभक्ति एवं तपमें बाधा डालनेवाला है। गाने-बजाने, नाच-विवाह आदि कार्योंसे बचकर रहें। तप-उपवास आदिको यथाविधि धारण-पालन करें।

फालतू बातचीत एवं व्यर्थ चेष्टा करके अपने अमूल्य समयको न बितावें। मृत्युको नजदीक समझकर सारा समय अपने कल्याणके कार्यमें ही लगानेकी कोशिश रखें। मन और इन्द्रियोंका संयम एवं यम-नियमादि सामान्य धर्मोंके पालनपर ध्यान रखते हुए ईश्वरके भक्ति-परायण होकर पवित्रताके साथ अपना जीवन बितावें।

उपर्युक्त प्रकारसे जीवन बितानेवाली विधवा स्त्री देवताओंद्वारा भी पूजनेके योग्य होती है। इस प्रकारकी पवित्र स्त्रियोंकी सेवा करनेवाले पुरुष भी पवित्र हो जाते हैं। जिन घरोंमें ऐसी स्त्रियाँ वास करती हैं वे घर भी पवित्र समझे जाते हैं।

पुरुषोंका स्त्रियोंके साथ व्यवहार।

माताओं और बहिनोंके दोषोंको दिखाते हुए हमने बहुत-सी बातें लिखी हैं किन्तु पुरुषोंके दोषोंकी तरफ देखा जाय तो उनमें इनसे भी कहीं अधिक दोष मिलेंगे। परन्तु स्त्रियोंका विषय होनेके कारण उनके सुधार और ज्ञानके लिये इतनी बातें लिखी हैं। अपेक्षाकृत देखा जाय तो सभी स्त्रियाँ पुरुषोंके साथमें सेवादिका व्यवहार करती हैं पर बदलेमें पुरुष उनके साथ वैसा नहीं करते। कोई-कोई तो बात-बातमें अपनी स्त्रियोंका अपमान करते हैं, उनको गालियाँ देते हैं और मार-पीटतक भी करने लग जाते हैं। यह मनुष्यताके बाहरकी बात है। उन भाइयोंसे हमारा नम्र निवेदन है कि स्त्रियोंके साथ अमानुषिक व्यवहार कदापि न करें। इस प्रकारके व्यवहारसे इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें दुर्गति होती है।

कोई-कोई भाई लोभके वशीभूत होकर अपनी कन्याको वृद्ध, रोगी, मूर्ख, अंगहीन आदि अपात्रोंके प्रति दे देते हैं। वे देने और लेनेवाले दोनों कन्याके जीवनको नष्ट करते हैं और स्वयं नरकके भागी होते हैं। अतः ऐसे पापोंसे मनुष्यको अवश्य बचकर रहना चाहिये।

स्त्रियोंके साथ सत्कारपूर्वक अच्छा व्यवहार करना चाहिये। स्त्रियोंका जहाँ सत्कार होता है वहाँ सब देवता निवास करते हैं। जहाँ सत्कार नहीं होता है वहाँ सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं। जब घरमें कोई पुरुष बीमार पड़ता है तो उसके लिये जितनी कोशिश होती है उतनी जब कोई स्त्री बीमार पड़ती है तब नहीं होती। यह विषमताका व्यवहार विषके समान फल देनेवाला है। अतः पुरुषोंको उचित है कि स्त्री-पुरुष सबके साथ समताका व्यवहार करें।

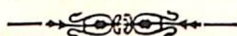
स्त्रियोंमें जो कई प्रकारके दोष दिखाये गये हैं उनका कारण भी अधिकांशमें पुरुष ही हैं। क्योंकि पुरुष स्त्रियोंके साथ बुरा व्यवहार करते हैं अतः उनको पुरुषोंसे ही बुरी शिक्षा प्राप्त होती है। यदि पुरुष स्त्रियोंके साथ अपना व्यवहार सुधार लें तो उनका बहुत-सा सुधार होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि यह न्याय है कि जब कोई किसीके साथ अच्छा व्यवहार करता है तो दूसरा भी उसके साथ अच्छा ही व्यवहार करता है।

विधवा स्त्रियोंके साथ तो पुरुषोंका व्यवहार प्रायः निन्दनीय ही है। उसके सुधारकी बहुत ही आवश्यकता है। जिसका पति मर जाता है वह बेचारी अनाथा हो जाती है, उसका लोग कहीं

आदर नहीं करते, न पीहरमें न ससुरालमें ! बहुत-से पुरुष अपनी पत्नियोंके वशमें होकर धर्म पालनेवाली सुशीला विधवा स्त्रीके साथमें भी सद्व्यवहार नहीं करते और न उसका पालन-पोषण ही करते हैं। प्रथम तो इस घोर कलिकालमें विधवाका धर्म रहना स्वाभाविक ही कठिन है तिसपर कोई रखना चाहती है तो उसको मदद देना तो दूर रहा बल्कि लोग अनेक प्रकारके सङ्कटोंमें डालनेकी चेष्टा करते हैं। इसमें कोई-कोई तो दुःखित होकर धर्मको छोड़ देती है। अतएव जिनके घरमें विधवा स्त्री हो उन मनुष्योंको स्वयं संयमसे रहकर उनको संयमकी शिक्षा देनी चाहिये। ऐश-आराम-भोगोंको तुच्छ समझकर स्वयं उत्तम आचरणोंको करते हुए उनको क्रियाके द्वारा सीख देनी चाहिये। उनकी तन-मन-धनसे मदद करनी चाहिये। विशेष मदद न दे सकें तो उनके स्वत्वपर तो बुरी नीयत कभी न करनी चाहिये। बहुत-से लोग तो ऐसे देखे गये हैं जो पुत्र, भाई आदिके मरनेके बाद उनकी स्त्रियोंके धनपर अधिकार जमाकर उनपर झूठा-सच्चा कलङ्क लगाकर उनको भोजनतक भी नहीं देते और कोई-कोई तो लोभमें आकर धन छीननेके लिये निकालनेतककी चेष्टा करते हैं। उस दुखियाकी हायसे उनका यह लोक और परलोक नष्ट हो जाता है। उन पुरुषोंको ईश्वरकी तरफ और मृत्युकी तरफ खयाल करके इस राक्षसी कर्मसे विरत होना चाहिये। यह लेख स्त्रियोंके विषयका होनेके कारण पुरुषोंके विषयको यहाँ विशेष नहीं लिखकर संक्षेपसे ही कुछ निवेदनमात्र किया है।



मिल और नीलसे हानि



वर्तमान युग प्रायः यन्त्रयुग हो रहा है, जहाँ देखिये वहीं यन्त्रका साम्राज्य है । प्रायः बड़े-से-बड़े राष्ट्रोंसे लेकर मामूली खाने-पीने-पहिननेतककी वस्तु आज यन्त्रके आश्रित हैं । परन्तु इस यन्त्रसे दुनियामें जो दुःखका दावानल धधक उठा है, उसे देख-सुनकर हृदय काँप उठता है । यन्त्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप-से अबाधित गतिसे मानव-प्राणियोंके सुखका सतत संहार कर रहा है । मानवेतर प्राणियोंकी तो यन्त्रको कोई परवा ही नहीं है । यह इस प्रकारका संहारक पदार्थ है कि जो मानवसंहारी असुरोंसे भी किसी अंशमें बढ़ गया है । आज संसारमें जो चारों ओर पेटकी ज्वालासे जलते हुए प्राणियोंका हाहाकार मच रहा है, करोड़ों मनुष्य बेकार हो रहे हैं, असंख्य नर-नारी विविध रोगोंसे ग्रस्त हैं, कर्म-शील मानव अकर्मण्य और आलसी बन गये हैं—इसका एक प्रधान कारण यह भयानक यन्त्रविस्तार है । यान्त्रिक सभ्यताका यदि इसी प्रकार विस्तार होता रहा तो सम्भवतः एक समय ऐसा आवे, जब कि सब प्रकारसे धर्म-कर्म-शून्य होकर मनुष्य ही मनुष्यका घातक बन जाय । प्रकारान्तरसे तो यह स्वरूप अब भी प्रत्यक्ष ही है ।

खेदका विषय है कि ऋषि-मुनि-सेवित पवित्र भारतभूमिमें भी यन्त्रका विस्तार दिनोंदिन बढ़ रहा है । पहले तो कपड़े और पाट

आदिकी ही मिलें थीं, जिनसे गरीबोंका गृह-उद्योग चर्खा आदि तो नष्ट हो ही गया था। अब छोटी-बड़ी सब तरहकी मिलें बन रही हैं, जिनमें ग्राम-उद्योगका बचाखुचा स्वरूप भी नष्ट हो रहा है। स्त्रियाँ धान कूटकर काम चलाती थीं, अब चावलोंकी मिलें हो गयीं। गरीब विधवा बहिनें आटा पीसकर अपना और अपने बच्चोंका पेट भरती थीं, अब गाँव-गाँवमें आटा पीसनेवाली कलकी चक्कियाँ बैठ गयीं। तेलियोंके कोल्हूको मिलोंने प्रायः हड़प लिया। चीनीका सबसे बड़ा गरीबोंका रोजगार तो मिलोंके द्वारा बड़ी ही बुरी तरहसे मारा गया। अब कपड़े धोनेका काम भी मशीनोंसे शुरू हो गया है, जिससे बेचारे गरीब धोबियोंकी रोटी भी मारी जानेकी सम्भावना हो गयी है। यह तो निश्चित है कि सैकड़ों-हजारों आदमियोंका काम जहाँ एक मिलसे होगा, वहाँ लोगोंमें बेकारी ही फैलती दृष्टि आती है। बेकारीमें असहाय होकर, अपने और परिवारकी पेटकी ज्वालासे पीड़ित होकर, इच्छा न होनेपर भी परिस्थितिमें पड़कर, मनुष्यको किस-किस प्रकारसे बुरे कर्म करने पड़ते हैं और कहीं-कहीं तो परिवार-का-परिवार आँसुओंसे तन-वदनको धोता हुआ चुपचाप एक ही साथ जीवन-लीला समाप्त कर लेता है। इस बातका पता बेकारोंको तो प्रायः है ही, अखबार पढ़नेवाले लोग भी ऐसी घटनाओंसे अनजान नहीं हैं।

साथ ही हाथकी बनी चीजोंमें जो जीवनीशक्ति, एक विशिष्ट सौन्दर्य, धर्मकी एक पवित्र भावना रहती है, वैसी मिलके बने पदार्थोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलती। प्राकृतिक और कृत्रिममें अथवा

असली और नकलीमें जो भेद रहता है वही भेद प्रायः इनमें भी समझना चाहिये। आटे और चावलको ही लीजिये, जाँतेमें हाथसे पिसे आटे और ढेकीसे कुटे चावलमें जो जीवनीशक्ति रहती है, बल और आरोग्यवर्धक तत्त्व रहता है, मिलके पिसे आटे या मिलके कुटे चावलमें प्रायः वैसा नहीं रहता। घर फूँककर रोशनी देखने-की भाँति अवश्य ही उनका कृत्रिम सौन्दर्य तो बढ़ ही जाता है।

अभी बेरी-बेरी रोगके सम्बन्धमें जाँच-पड़ताल होनेपर, यह बात निश्चित हो चुकी है कि इस रोगके उत्पन्न और विस्तार होनेमें आटा, चावल आदि मिलोंके पिसे-कुटे पदार्थ ही विशेष कारणरूप हैं। यही हाल चीनीका है। जो जीवन-तत्त्व ग्रामोंके हाथसे बने गुड़में है, उससे अनेकों हिस्से कम हाथकी बनी चीनीमें है और मिलकी बनी चीनीमें कहा जाता है कि जीवन-तत्त्व (विटामिन) बहुत ही कम है। यही हाल तैल इत्यादि वस्तुओंका समझना चाहिये। चीनीकी मिलोंमें सीरेकी, धानकलोंमें चावलके पानीकी तथा मिलके चावलसे बने हुए भातकी दुर्गन्धसे स्वास्थ्यकी भयानक हानि होती है। ऐसी अवस्थामें इन वस्तुओंके प्रचारसे देशके स्वास्थ्यका कितना अधिक ह्रास होगा, इसपर विचार करनेसे भविष्य बहुत ही भयानक प्रतीत होता है।

मिलोंके अधिक प्रचारसे मशीनोंकी खरीदीमें विदेशमें जो धन जाता है उसकी संख्या भी थोड़ी नहीं है। साथ ही मिलोंमें काम करनेवाले गरीब मजदूर भाई-बहिनोंके स्वास्थ्यकी ओर यदि देखा जाय तो उसमें भी बड़ी हानि माल्रम होती है। मिलोंसे

किसानोंकी जो हानि हो रही है, वह भी हृदय हिला देनेवाली है। मनुष्येतर प्राणियोंका अर्थात् छोटे-मोटे जीवोंका, कीड़े-मकोड़ोंका जो संहार होता है, उसकी तो कोई संख्या ही नहीं है। दुःख है कि आज मनुष्यने अपने स्वार्थ-साधनके लिये इतर प्राणियोंके तो जीवनका मूल्य ही नहीं मान रक्खा है। सम्भव है कि विविध कला और विद्याओंमें निष्णात भारतीय ऋषि-मुनि और विद्वानोंने यन्त्रोंके दुष्परिणामको जानकर ही उनका आविष्कार और प्रचार नहीं किया था। आज तो ऐसी दशा हो गयी है कि मिलोंके बने हुए पदार्थोंका व्यवहार करना दूषित प्रतीत होनेपर भी, उसका छोड़ना कठिन हो गया है। हमारे व्यापारमें, हमारी आजीविकाके साधनमें और हमारी घर-गृहस्थीमें मिलका इतना अधिक प्रवेश हो गया है कि दोष प्रतीत होनेपर भी सहसा उसे निकाल देना असम्भव नहीं तो बहुत ही कठिन है। मेरा तो यहाँपर यही निवेदन है कि मिलके दोषोंको समझकर, जहाँतक बन पड़े हमलोगोंको मिलोंसे कम सम्बन्ध रखना चाहिये। वर्तमान परिस्थितिको देखते, न तो यही कहा जा सकता है कि मिलोंके सञ्चालक सहसा सब मिलोंको बन्द कर दें और न मिलोंसे सम्बन्धित व्यापार छोड़ना और सम्पूर्णरूपसे घरको मिलकी चीजोंसे रहित करना ही सम्भव है। शनैः-शनैः यह काम करना चाहिये। जहाँतक हो सके मिलोंसे सम्बन्ध हटाकर, ग्राम-उद्योगोंसे सम्बन्ध जोड़ना, उनको पुनर्जीवित करना और उनका विस्तार करना प्रत्येक सहृदय देशवासीका अपने देश, जाति, धर्म और स्वास्थ्यके लाभके लिये अति आवश्यक कर्तव्य है।

खास करके उन लोगोंसे निवेदन है कि जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें और अपने घरोंमें मिलोंकी बनी वस्तुओंका व्यवहार करना आवश्यक समझते हैं या करते हैं । ये भाई-बहिन यदि मिलकी बनी वस्तुओंके बदले हाथकी बनी वस्तुओंका व्यवहार करना आरम्भ कर दें—अवश्य ही ऐसा करनेमें उन्हें अपनी शौकीनीकी वासनाको और बाहरी सजावटके प्रलोभनको कुछ कम करना होगा—तो सहज ही मिलका विस्तार कम हो सकता है और ग्राम-उद्योगकी श्रीवृद्धि होनेसे फलस्वरूप गरीब भाई-बहिनोंकी जीवन-रक्षा, देशके स्वास्थ्यकी उन्नति, देशके धनका संरक्षण, बेकारीका नाश, आलस्य और अकर्मण्यताका लोप और धर्मकी वृद्धि हो सकती है ।

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि हाथसे बनी वस्तुओंका निर्माण करनेमें जितनी धार्मिक भावना रहती है, उतनी मिलके काममें नहीं रह सकती । उदाहरणस्वरूप चीनीको ही लीजिये । आजकल चीनीको चमकदार बनानेके लिये उसमें नील दी जाती है । हमारे शास्त्रोंके अनुसार नील सर्वथा हानिकर, धर्मनाशक और अशुभको पैदा करनेवाली है । सर्वज्ञ ऋषि-मुनियोंने इस विषयपर क्या लिखा है और कहाँतक नीलके व्यवहारमें हानि बतलायी है, इसका पता नीचे उद्‌धृत किये हुए कुछ श्लोकोंसे लग सकता है—

एकपङ्क्त्युपविष्टानां भोजनेषु पृथक्पृथक् ।
यद्येको लभते नीलीं सर्वे तेऽशुचयः स्मृताः ॥

यस्य पटे पट्टसूत्रे नीलीरक्तो हि दृश्यते ।
त्रिरात्रं तस्य दातव्यं शेषाश्चैवोपवासिनः ॥

(अत्रिसंहिता २४४-२४५)

'भोजनके निमित्त एक ही पंक्तिमें पृथक्-पृथक् बैठे हुए अनेकों मनुष्योंमेंसे यदि एक मनुष्य भी नीलका वस्त्र पहने हो तो वे सभी अपवित्र माने जाते हैं । उस समय जिसके साधारण या रेशमी वस्त्रमें नीलसे रँगा हुआ अंश दीख जाय उसे त्रिरात्रव्रत करना चाहिये और उसके साथ बैठनेवाले शेष मनुष्य उस दिन उपवास करें ।'

पालनाद् विक्रयाच्चैव तद्वृत्त्या चोपजीवनात् ।
पतितस्तु भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति ॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'नीलकी खेती, विक्रय और उसीकी वृत्तिद्वारा जीविका चलानेसे ब्राह्मण पतित हो जाता है, फिर तीन कृच्छ्रव्रत करनेसे वह शुद्ध होता है ।'

नीलीदारु यदा भिन्द्याद् ब्राह्मणस्य शरीरकम् ।
शोणितं दृश्यते तत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

(आपस्तम्बस्मृति ६ । ६)

'यदि ब्राह्मणका शरीर नीलकी लकड़ीसे बिंध जाय और रक्त निकल आवे तो वह चान्द्रायणव्रतका आचरण करे ।'

नीलीवृक्षेण पक्वं तु अन्नमश्नाति चेद् द्विजः ।
आहारवमनं कृत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'यदि ब्राह्मण नीलकी लकड़ीसे पकाया हुआ अन्न भोजन

कर ले तो उस आहारका वमन करके पञ्चगव्य लेनेसे वह शुद्ध होता है।'

भक्षेत्प्रमादतो नीलीं द्विजातिस्त्वसमाहितः।
त्रिषु वर्णेषु सामान्यं चान्द्रायणमिति स्थितम्॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'यदि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) असावधानतावश नील-भक्षण कर लें तो तीनों द्विजातियोंके लिये सामान्यरूपसे चान्द्रायणव्रत करना बतलाया गया है।'

नीलीरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपदीयते।
नोपतिष्ठति दातारं भोक्ता भुङ्क्ते तु किल्बिषम्॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'नीलसे रँगे हुए वस्त्रको धारण करके जो अन्न दिया जाता है वह दाताको नहीं मिलता और उसे भोजन करनेवाला भी पाप ही भोगता है।'

मृते भर्तरि या नारी नीलीवस्त्रं प्रधारयेत्।
भर्ता तु नरकं याति सा नारी तदनन्तरम्॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'पतिदेवके मर जानेपर जो स्त्री नीलमें रँगा हुआ वस्त्र धारण करती है उसका पति नरकमें जाता है, उसके बाद वह स्त्री भी नरकमें ही पड़ती है।'

नील्या चोपहते क्षेत्रे सस्यं यत्तु प्ररोहति।
अभोज्यं तद्द्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(अङ्गिरःस्मृति)

'नील बोनेसे दूषित हुए खेतमें जो अन्न पैदा होता है वह द्विजातियोंके भोजन करनेयोग्य नहीं होता, उसे खा लेनेपर चान्द्रायणव्रत करना चाहिये।'

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
पञ्चयज्ञा वृथा तस्य नीलीवस्त्रस्य धारणात्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।३)

'नीलमें रँगे वस्त्रको धारण करनेसे मनुष्यके स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण और पञ्चयज्ञ सभी निष्फल हो जाते हैं।'

रोमकूपैर्यदा गच्छेद्रसो नील्यास्तु कर्हिचित्।
पतितस्तु भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।५)

'यदि कभी रोमकूपोंद्वारा नीलका रस अन्दर चला जाय तो ब्राह्मण पतित हो जाता है और फिर तीन कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है।'

नीलरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपनीयते।
अभोज्यं तद् द्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।८)

'नीलसे रँगे हुए वस्त्रद्वारा यदि अन्न लाया जाय तो वह द्विजातियोंके भोजनयोग्य नहीं रह जाता, उसे खा लेनेपर चान्द्रायणव्रत करना चाहिये।'

उपर्युक्त ऋषि-वाक्योंसे नीलका सर्वथा अपवित्र होना एवं पाप

और दुःखोंकी उत्पत्तिमें कारण होना तथा अन्तःकरणको दूषित करके अध्यात्ममार्गसे गिरानेवाला होना सिद्ध है। आजकल हमलोग प्रायः न तो शास्त्रके वाक्योंका अध्ययन ही करते हैं और न उनपर विश्वास ही; इसी कारणसे मनमाना आचरण करने लगे हैं। धोबियोंतकसे कपड़ेकी चमकके लिये कपड़े धुलवानेमें नील दी जाती है। वस्त्रके किनारे और वस्त्रोंका नीला-काला तो शौकीनीका अङ्ग हो गया है। चीनीके साथ मिलकर अब तो नील हमारे पेटोंमें भी जाने लगी, अतएव केवल पवित्रताका विज्ञापन देखकर ही हमें नहीं भूलना चाहिये। ऋषिवाक्योंके अनुसार पवित्रताकी जाँच करनी चाहिये और जहाँतक बने अपवित्र वस्तुओंका तन-मनसे त्याग करना चाहिये।

इसी प्रकार मिलके बने हुए वस्त्रोंपर प्रायः पशुओंकी चर्बीसे पालिस की जाती है, शायद ही कोई ऐसी मिल हो जिसमें चर्बीका उपयोग न होता हो। इसके लिये प्रतिवर्ष लाखों निरीह, निरपराध और मूक पशुओंका वध होता है। ऐसी अवस्थामें मिलके वस्त्रोंका व्यवहार करनेसे धर्म, जाति, पवित्रता, स्वास्थ्य, धन आदि सभीका नाश होता है। अतएव जहाँतक हो सके मिलके बने चीनी, चावल, आटा और वस्त्र आदि सभी पदार्थोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये।



प्रतिकूलताका नाश



प्रतिकूलतामें ही दुःख है, अतएव दुःखोंके आत्यन्तिक अभावके लिये प्रतिकूलताका त्याग करना चाहिये। इसके लिये भक्ति और ज्ञान ये दो उपाय हैं एवं दोनों ही उत्तम हैं। अधिकारी-भेदके अनुसार ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और भक्तोंके लिये कर्मयोग भगवान्‌ने (गीता अध्याय ३ श्लोक ३ में) बतलाया है। तथापि ज्ञानकी अपेक्षा सर्वसाधारणके लिये भक्तिका उपाय ही सुगम है। ईश्वर-भक्तिके प्रतापसे सम्पूर्ण दुःखोंकी मूल प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ईश्वर-भक्तकी किसी भी जीवमें और किसी भी पदार्थमें प्रतिकूलता नहीं रहती, क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर ही सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान

हो रहे हैं, अतएव किसीसे भी द्वेष करना परमेश्वरसे ही द्वेष करना है। इसके अतिरिक्त वह सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें भी ईश्वरकी अनुकूलताका ही दर्शन करता है। इस हालतमें वह किससे कैसे द्वेष करे ? जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही उनके सुख-दुःख-भोगके लिये परमेश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको रचते हैं। जो पुरुष इस प्रकार समझता है, वह ईश्वरके किये हुए प्रत्येक विधानमें वैसे ही प्रसन्नचित्त रहता है जैसे मित्रके किये हुए विधानमें मित्र और पतिके विधानमें उत्तम स्त्री रहती है। उत्तम पतिव्रता स्त्री पतिकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता जानती है। अर्थात् पतिकी अनुकूलता ही उसके लिये अपनी अनुकूलता है। पति जो भी कुछ भली-बुरी चीज लाता है अथवा जो कुछ भी चेष्टा करता है, वह उसीमें प्रसन्न रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त भी, भगवान् जो भी कुछ करते हैं हमारे अच्छेके लिये करते हैं, यह समझकर उनकी की हुई प्रत्येक चेष्टामें, एवं पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें सदा प्रसन्नचित्त रहता है; यानी परेच्छा या अनिच्छासे जो भी कुछ अच्छे-बुरे पदार्थोंकी एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है वे सब ईश्वरकी इच्छासे होनेके कारण ईश्वरकी लीला हैं, इस प्रकार समझकर वह हर समय आनन्दमें मग्न रहता है। वस्तुतः पतिव्रता स्त्रीका उदाहरण भी ईश्वरके साथ लागू नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्यमें स्वार्थ रहता है, एवं ज्ञानकी कमी होनेके कारण उससे भूल भी हो सकती है किन्तु ईश्वर निर्भ्रान्त हैं, इसलिये उनकी लीला न्याय और ज्ञानसे पूर्ण है, और उसमें जीवोंका हित भरा हुआ है।

विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो सांसारिक पदार्थोंमें होनेवाली अनुकूलता भी त्याज्य है, क्योंकि सांसारिक सुख क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखरूप होनेके कारण सांसारिक अनुकूलतामें होनेवाला सुख भी वस्तुतः दुःख ही है। जहाँ संसारके पदार्थोंमें अनुकूलता होती है, वहीं उनके प्रतिपक्षमें प्रतिकूलता रहती है और जहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता है, वहीं राग-द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेषसे काम-क्रोधादि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होकर महान् दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंहीको अनन्त दुःखोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये। इसीलिये भगवान्ने गीता अ० १३ श्लोक ९ में लिखा है कि इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा समचित्त रहना चाहिये।

इस प्रकारकी समता ईश्वरकी शरण होनेसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है। ईश्वर सुहृद् हैं, दयालु हैं, प्रेमी हैं और ज्ञानस्वरूप हैं, इस प्रकार समझनेवाला पुरुष ईश्वरको कभी नहीं भूलता तथा अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करके केवल एक ईश्वरकी इच्छाके ही परायण हो जाता है। वह अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको ईश्वरके अर्पण कर देता है, ईश्वरकी कठपुतली बन जाता है। ईश्वर ज्यों कराता है त्यों ही करता है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं करता एवं ईश्वरके किये हुए विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। इसीका नाम शरण है।

सुखकारक पदार्थमें अनुकूलता और दुःखकारक पदार्थमें

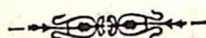
प्रतिकूलता स्वभावसिद्ध है। विचार करनेसे संसारका कोई भी पदार्थ वास्तवमें सुखकारक नहीं है। परम आनन्दस्वरूप एवं परम आनन्ददायक परम हितकारी केवल एक परमात्मा ही हैं; इसलिये वास्तवमें परमात्मामें ही अनुकूलता होनी चाहिये। जो इस रहस्यको समझता है वह परमात्माके अनुकूल बन जाता है और उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके अनुकूल हो जाती हैं। वह उन लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उन लीलामयका दर्शन करता रहता है; इससे उसके लिये प्रतिकूलताका एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह उन लीलामयकी लीलाको और प्रेमास्पद परमात्माको अपने परम अनुकूल देखकर प्रतिक्षण मुग्ध होता रहता है।

ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तवमें कोई वस्तु ही नहीं ठहरती; क्योंकि संसार स्वप्नवत् है और स्वप्नके पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उससे उत्पन्न होनेवाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी ही हैं। जब मनुष्य स्वप्नसे जागता है तब स्वप्नके किसी पदार्थको भी नहीं देखता और स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंको मायामय समझता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको मायामय समझता है। इस प्रकार जब मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वप्नसदृश मायामय समझ लेता है तब अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कुछ भी सत्ता नहीं रह जाती। फिर एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती। उसकी दृष्टिमें

एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्दघन ही रहता है और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिये जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे हो जाती है, उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण संसारमें सम हो जाती है और सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलताकी दृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब अनुकूलता और प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब राग-द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थोंका एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तथा उसे परमशान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें वह परम आनन्द ब्रह्म ही परम अनुकूल है एवं वही सबका आत्मा होनेसे अपना आत्मा है। जब इस प्रकारका ज्ञान हो जाता है तब फिर उसकी प्रतिकूल बुद्धि कहीं नहीं हो सकती क्योंकि अपने आपमें प्रतिकूलता नहीं होती। इस प्रकारके ज्ञानके द्वारा या उपर्युक्त ईश्वर-भक्तिद्वारा सम्पूर्ण दुःखोंके मूलभूत प्रतिकूलताका सर्वथा नाश करना चाहिये।



पाप और पुण्य



प्र०—(क) पाप और पुण्य क्या है ?

(ख) जो मनुष्य ईश्वर और किसी धर्मशास्त्रपर विश्वास नहीं करता, वह शास्त्रीय विधि-निषेधको तो पुण्य-पाप मानता नहीं, फिर उसके लिये पाप-पुण्यकी व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है ?

उ०—(क) यद्यपि पाप-पुण्यका विषय बहुत गम्भीर है तथा इसका दायरा बहुत विस्तृत है तथापि संक्षेपमें साररूपसे यही कहा जा सकता है कि 'मानव-कर्त्तव्य ही पुण्य या सुकृत है, और अकर्त्तव्य ही पाप या दुष्कृत है ।'

(ख) पुण्य-पाप अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके निर्णयमें शास्त्र (धर्मग्रन्थ) ही प्रमाण हैं इसीलिये श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १६ । २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये ।' परन्तु जिस मनुष्यका ईश्वर और

शास्त्रमें विश्वास नहीं है, शास्त्रकी व्यवस्था न माननेपर भी, उसके लिये भी मानव-कर्त्तव्य ही पुण्य है और अकर्त्तव्य ही पाप है। अब यह प्रश्न आता है कि शास्त्रको न माननेवाला मनुष्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निर्णय किस प्रकार करे ? इसका उत्तर यह है कि उसे प्राचीन और वर्तमान महापुरुषोंके किये हुए निर्णय और आचरणको प्रमाण मानकर अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहिये। इसपर यदि कहा जाय कि किसीकी दृष्टिमें कोई महापुरुष हैं और किसीकी दृष्टिमें कोई, और उन महापुरुषोंमें मतभेद है, ऐसी स्थितिमें वह क्या करे ? इसका उत्तर यह है कि जिसकी दृष्टिमें जो महापुरुष हैं, उसको उन्हींका आचरण और निर्णय मानना चाहिये। इसपर यदि यह कहा जाय कि तब तो माननेवालेकी बुद्धि ही प्रधान रही, सो ठीक ही है; जो धर्मशास्त्र और ईश्वरको नहीं मानते, उन्हें तो अपनी ही बुद्धिपर निर्भर रहना पड़ेगा। अपनी बुद्धिके निर्णयमें भूल हो सकती है इसीलिये महापुरुषोंने शास्त्रप्रमाण माननेके लिये कहा है। शास्त्रको प्रमाण न माननेवालोंको किसी महापुरुषके वचन प्रमाणरूप मानने पड़ेंगे, और यदि किसी महापुरुषपर भी विश्वास न हो तो उन्हें अपनी बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव ऐसे पुरुषोंको अपनी बुद्धिसे किये हुए निश्चयके अनुसार ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी व्यवस्था करनी पड़ती है।

अब यह बात बुद्धिसे सोचनी चाहिये कि मनुष्यके लिये वस्तुतः कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य क्या हो सकता है। इस प्रकारसे

सोचनेकी बुद्धि मनुष्यमें ही है, पशु-पक्षी आदि अन्यान्य जीवोंमें नहीं। इसलिये यह बात मनुष्यपर ही लागू पड़ती है। जो मनुष्यका शरीर प्राप्त करके कर्तव्याकर्तव्यका विचार किये बिना ही कार्य करता है, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है, वास्तवमें ऐसा मनुष्य मानव-शरीरमें भी पशुके ही तुल्य है।

संसारमें दो वस्तुएँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं—(१) चेतन, (२) जड़। जो द्रष्टा है वह चेतन है, और जो दृश्य है वह जड़ है। द्रष्टा भोक्ता है, दृश्य भोग्य है। द्रष्टाके ही लिये दृश्य है। त्याग-बुद्धिसे ज्ञानपूर्वक दृश्यका उपभोग करनेमें मुक्ति है अर्थात् इस चेतनका दुःख और पापोंसे मुक्त होकर परम आनन्द और परमा शान्तिमें निवास है। बिना समझके उपभोगसे बन्धन, पतन, दुःख और अशान्ति है।

अतएव जो कर्म अपने या किसी भी अन्य चेतन जीवके लिये इस लोक और परलोकमें वस्तुतः लाभजनक है वही कर्तव्य है, और जिससे अपना या अन्य किसी जीवका इहलोक और परलोकमें अहित होता है वही अकर्तव्य है, इसी कर्तव्य-अकर्तव्यको शुभ-अशुभ, कार्य-अकार्य, विधि-निषेध या पाप-पुण्य कहा जा सकता है।

इसी प्रकार इस लोक और परलोकमें प्राप्त होनेवाले सुखके साधनरूप जो जड पदार्थ हैं, उनकी भी वृद्धिका यत्न करना पुण्य और क्षयका प्रयत्न पाप है। यही पुण्य-पापका संक्षिप्त विवेचन है।

प्र०—मांसाहारको कुछ लोग पुण्य बताते हैं और कुछ लोग पाप; वास्तवमें यह क्या है? यदि पाप है तो जिस मनुष्यका जन्म

मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है और लड़कपनसे ही मांस खाना जिसका स्वभाव है वह मांसाहारको पाप कैसे मान सकता है ?

उ०—मांसाहारमें सबसे बढ़कर दोष यह है कि किसीकी हिंसा किये बिना मांस मिल नहीं सकता और किसी भी जीवको किसी प्रकारसे किञ्चिन्मात्र भी कष्ट पहुँचाना पाप है । उसे समूल नष्ट कर देना तो महापाप है । ऐसी परिस्थितिमें मांसाहार-को पुण्य किसी प्रकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि वास्तवमें वह पाप ही है । जो लोग मांसाहारको पुण्य समझते हैं अथवा जो पाप नहीं समझते, वे भी गम्भीरताके साथ विचार करें तो सम्भव है कि उनकी बुद्धिमें भी मांसाहार पाप दीखने लगे । क्योंकि जिनका मांस खाया जाता है, उन जीवोंको प्रत्यक्षमें ही महान् कष्ट होता है और उनका नाश हो जाता है । किसी प्रकारसे किसीको दुःख पहुँचाना ही पाप है। अपने शरीरका उदाहरण सामने रखकर इसपर विचार करना चाहिये । विवेकशील मनुष्यका कभी यह कर्तव्य नहीं हो सकता कि वह जिस कार्यको अपने लिये महान् दुःख समझता है, उसीको दूसरोंके प्रति करे । यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि चोट लगनेपर या मारनेपर जैसी पीड़ा हमलोगोंको होती है वैसी ही पशु-पक्षियोंको होती है । मारनेके समय उनके रुदन, विलाप और छूटनेकी चेष्टा-से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । फिर अपने शरीरपोषणके लिये या

स्वादके लिये तो दूसरे जीवोंका जानसे मार डालना किसी प्रकार भी मनुष्यत्व नहीं कहला सकता !

पशु-पक्षी आदिको मारकर उनका मांसाहार करनेमें उनका या अपना किसी प्रकार हित भी नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष पीड़ित होते और मरते ही हैं परन्तु मांसाहारीका भी बड़ा नुकसान होता है। मांसाहारसे मनुष्यका स्वभाव क्रूर और तामसी हो जाता है, दया उसके हृदयसे चली जाती है। वह जिनका मांस खाता है, उन जीवोंके रोग और दुष्ट-स्वभावके परमाणु अन्दर जानेसे नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हो जाती हैं; पाप तो होता ही है। मनुष्यके मुखकी आकृति और उसके दाँतों तथा दाढ़ोंको देखनेसे इस बातका भी प्रत्यक्ष पता लगता है कि मांस मनुष्यका आहार भी नहीं है। जो जिसका आहार नहीं है वह उसके लिये अखाद्य है और स्वास्थ्य-नाशक है। दुर्गन्धके कारण भी मांस अखाद्य है। फिर यह ऐसा आवश्यक भी नहीं है कि इसके बिना जीवन न चले। इसके अतिरिक्त अधिकार भी नहीं है। किसी भी जीवको सहायता देने, बढ़ाने और उसके जीवन धारणमें मददगार होनेका ही अधिकार है, मारनेका कदापि नहीं। क्योंकि ईश्वरने मनुष्यको सम्पूर्ण चराचरके रक्षणके लिये उत्पन्न किया है, भक्षणके लिये नहीं। यह बात इसकी विद्या, बुद्धि, आकृति और योग्यतासे भी सिद्ध होती है। यह भी विचार करना चाहिये कि मांसाहारीको तो मांसाहार-

से क्षणिक सुख मिलता है और थोड़े-से कालके लिये उसका निर्वाह होता है, परन्तु उस प्राणीका तो सदाके लिये विनाश हो जाता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे कोई भी समझदार मनुष्य मांसाहारको न तो पुण्य बतला सकता है और न यही कह सकता है कि यह पाप नहीं है। यह तो एक प्रकारकी जबरदस्ती है। पशु-पक्षियोंमें हम देखते हैं कि बलवान् पशु-पक्षी निर्बल जीवोंको मारते हैं। मनुष्य बुद्धिमान् होनेके कारण सबसे बलवान् है, अतः वह यदि अपने छल, बल और कौशलसे निरीह, निर्बल, मूक पशुओंको मारता है तो यह उसका मानवदेहमें ही पशुपन है। पशुमें तो कर्तव्याकर्तव्यकी बुद्धि नहीं है, इसलिये हम कह सकते हैं कि उसके लिये वह पाप नहीं होता परन्तु मनुष्यको तो यह बुद्धि प्राप्त है अतएव वह यदि दूसरे जीवोंको मारकर या उन्हें मरवाकर मांसाहार करता है, तो वह पशुसे भी गया-गुजरा है। पशु-पक्षी ही नहीं, गम्भीर विचार करनेपर तो जान पड़ेगा कि सजीव हरे वृक्ष और व्रीहि आदिके छेदनमें भी किसी अंशमें हिंसा है। परन्तु संसारमें कोई भी आरम्भ निर्दोष नहीं होता, और मनुष्यको अपने जीवननिर्वाहके लिये इनका उपयोग करना पड़ता है और उसकी आकृतिसे भी पता लगता है कि यह फल, व्रीहि इत्यादि ही उसका खाद्य है; तथापि जहाँतक हो सके इनका उपयोग भी आवश्यकतानुसार कम-से-कम ही करना चाहिये। अनावश्यक फलमूलवृक्षादिका छेदन कदापि नहीं करना चाहिये। फिर वृक्षोंका तो उनकी उन्नति या

वृद्धिके लिये भी छेदन किया जा सकता है। कलम करनेसे पेड़ बढ़ते हैं, फलोंसे बीज होते हैं और उन बीजोंसे पुनः वृक्षोंकी वृद्धि होती है। परन्तु मांसाहारमें तो केवल क्षय-ही-क्षय है अतएव मांसाहार सर्वथा पाप और त्याज्य है।

संसारमें जितने जड पदार्थ हैं वे सभी किसी-न-किसी रूपमें चेतनोंके लिये ही हैं परन्तु उनको भी व्यर्थ नुकसान पहुँचाना पाप है, फिर चेतन प्राणियोंका शरीरवियोग करना पाप है इसमें तो कहना ही क्या है?

जिस मनुष्यका जन्म और पालनपोषण मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है, और लड़कपनसे जिसका वैसा स्वभाव है, उसके लिये भी मांसाहार सर्वथा त्याज्य है। मनुष्यको विवेककी बड़ी सम्पत्ति प्राप्त है, जब उसको यह समझ आ जाय कि दूसरोंके द्वारा पीड़ा पहुँचानेपर या मारने-पर मुझे दुःख होता है, तभीसे उसको यह सोचना चाहिये कि जैसा दुःख मुझको होता है, ऐसा ही दूसरे प्राणियोंको भी होता है। और दूसरे प्राणियोंके मरने-मारनेके समय होनेवाले भयंकर कष्टको मांसाहारी देखता-सुनता भी है। ऐसी हालतमें मनुष्य होनेके कारण उसके लिये मांसाहार करना पाप ही है, और उसे मांसाहारको पाप समझकर तुरन्त ही त्याग देना चाहिये।



मांस-भक्षण-निषेध

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥
(महा० अनु० ११५ । ५५)

'जो पुरुष अपने लिये आत्यन्तिक शान्ति लाभ करना चाहता है, उसको जगत्‌में किसी भी प्राणीका मांस किसी भी निमित्त नहीं खाना चाहिये ।'

यद्यपि जगत्‌में बहुत-से लोग मांस खाते हैं, परन्तु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मांस-भक्षण सर्वथा हानिप्रद है । इससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं । बहुत-से लोग तो ऐसे हैं जो मांस-भक्षणको हानिकर समझते हुए भी बुरी आदतके वशमें

होनेके कारण नहीं छोड़ सकते। कुछ ऐसे हैं जो आराम और भोगासक्तिके वशमें हुए मांस-भक्षणका समर्थन करते हैं परन्तु उन लोगोंको भी विवेकी पुरुषोंके समुदायमें नीचा देखना पड़ता है। मांस-भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका पार नहीं है। उनमेंसे यहाँ संक्षेपमें कुछ बतलाये जाते हैं। निवेदन यही है कि पाठक इस लेखको मननपूर्वक पढ़ें और उनमें जो मांस खाते हों वे कृपापूर्वक मांस खाना छोड़ दें।

१—मांस-भक्षण भगवत्प्राप्तिमें बाधक है।

२—मांस-भक्षणसे ईश्वरकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है।

३—मांस-भक्षण महापाप है।

४—मांस-भक्षणसे परलोकमें दुःख प्राप्त होता है।

५—मांस-भक्षण मनुष्यके लिये प्रकृतिविरुद्ध है।

६—मांस-भक्षणसे मनुष्य पशुत्वको प्राप्त होता है।

७—मांस-भक्षण मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है।

८—मांस-भक्षण घोर निर्दयता है।

९—मांस-भक्षणसे स्वास्थ्यका नाश होता है।

१०—मांस-भक्षण शास्त्रनिन्दित है।

अब उपर्युक्त दस विषयोंपर संक्षेपसे पृथक्-पृथक् विचार कीजिये।

(१) सम्पूर्ण रूपसे अभयपदकी प्राप्तिको ही मुक्ति—परमपद-प्राप्ति या भगवत्-प्राप्ति कहते हैं। इस अभयपदकी प्राप्ति उसीको

होती है जो दूसरोंको अभय देता है। जो अपने उदरपोषण अथवा जीभके स्वादके लिये कठोरहृदय होकर प्राणियोंकी हिंसा करता-कराता है, वह प्राणियोंको भय देनेवाला और उनका अनिष्ट करनेवाला मनुष्य अभयपदको कैसे प्राप्त हो सकता है ? श्रीभगवान्‌ने निराकार-उपासनामें लगे हुए साधकके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' और भक्तके लिये 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' कहकर सर्वभूतहित और प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दया करनेका विधान किया है। भूतहित और भूतदयाके बिना परमपदकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। अतएव आत्माके उद्धारकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह किसी भी जीवको किसी समय किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचावे। भगवत्प्राप्तिकी तो बात ही दूर है, मांस खानेवालेको तो स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं होती। मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

(५।४८)

'प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता। और प्राणिवध करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव मांसका त्याग करना चाहिये।'

(२) समस्त चराचर जगत्‌के रचयिता परम पिता परमात्माकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं, या यों कहना चाहिये कि उनके द्वारा रचित होनेके कारण सब उन्हींकी सन्तान हैं। इसीलिये

भक्तकी दृष्टिमें सभी जीव अपने भाईके समान होते हैं, इस रहस्यके जाननेवाले ईश्वर-भक्तके लिये परम पिता परमात्माकी सन्तान अपने बन्धुरूप किसी भी प्राणीको मारना तो दूर रहा, वह किसी-को किञ्चित् कष्ट भी नहीं पहुँचा सकता। जो लोग इस बातको न समझकर स्वार्थवश दूसरे जीवोंकी हिंसा करते हैं, और हिंसा करते हुए ही अपने ऊपर ईश्वरकी दया चाहते हैं और ईश्वर-प्राप्ति-की कामना करते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। प्राणिवध करनेवाले क्रूरकर्मा मनुष्योंपर ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ? किसी पिताका एक लड़का लोभ-वश अपने दूसरे निर्दोष भाइयोंको सताकर या मारकर जैसे पिताका कोपभाजन होता है वैसे ही प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले लोग ईश्वरकी अप्रसन्नता और कोपके पात्र होते हैं।

(३) धर्ममें सबसे पहला स्थान अहिंसाको दिया गया है और सब तो धर्मके अङ्ग हैं, परन्तु अहिंसा परम धर्म है—'अहिंसा परमो धर्मः। महाभारत अनु० ११५। २५।' धर्मका तात्पर्य अहिंसामें है। धर्मको माननेवाले सभी लोग अहिंसा और त्यागकी प्रशंसा करते हैं। जो धर्म मनुष्यकी वृत्तियोंको अहिंसा, त्याग, निवृत्ति और संयमकी ओर ले जाता है, वही यथार्थ धर्म है। जिस धर्ममें इन बातोंकी कमी है वह धर्म अधूरा है। मांस-भक्षण करनेवाले अहिंसा-धर्मका हनन करते हैं, धर्मका हनन ही पाप है। कोई यह कहें कि हम स्वयं जानवरोंको न तो मारते हैं और न मरवाते हैं, दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षियोंका मांस खरीदकर खाते हैं इसलिये हम प्राणिहिंसाके पापी क्यों माने

जायँ। इसका उत्तर स्पष्ट है। हिंसा मांसाहारियोंके लिये ही की जाती है। कसाईखाने मांस खानेवालोंके लिये ही बने हैं। यदि मांसाहारीलोग मांस खाना छोड़ दें तो प्राणिवध कोई किस लिये करे ? फिर यह भी समझनेकी बात है कि केवल अपने हाथों किसीको मारनेका नाम ही हिंसा नहीं है। महर्षि पतञ्जलिने अहिंसाके मुख्यतया सत्ताईस भेद बतलाये हैं। यथा—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योग० २। ३४)

अर्थात् 'स्वयं हिंसा करना, दूसरेसे करवाना और हिंसाका समर्थन करना—यह तीन प्रकारकी हिंसा है। ये तीन प्रकारकी हिंसा लोभ, क्रोध और अज्ञानके हेतुओंसे होनेके कारण (३×३=९) नौ प्रकारकी हो जाती है। और नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेसे (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। इसी तरह मिथ्या भाषण आदिका भी भेद समझ लेना चाहिये। ये हिंसादि सभी दोष कभी नहीं मिटनेवाले दुःख और अज्ञानरूप फलको देनेवाले हैं ऐसा विचार करना ही प्रतिपक्षभावना है।' यही २७ प्रकारकी हिंसा शरीर, वाणी और मनसे होनेके कारण इक्यासी भेदोंवाली बन जाती है। इसलिये स्वयं न मारकर दूसरोंके द्वारा मरे हुए पशुओंका मांस खानेवाला भी वास्तवमें प्राणिहिंसक ही है। मनु महाराज कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
(मनु० ५ । ५१)

'सलाह-आज्ञा देनेवाला, अंग काटनेवाला, मारनेवाला, मांस खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सभी घातक कहलाते हैं ।' इसी प्रकार महाभारतमें कहा है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः ।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥
(महा० अनु० ११५ । ४०, ४९)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणीकी हिंसा करता है, खानेवाला उपभोगसे करता है और मारनेवाला मारकर और बाँधकर हिंसा करता है, इस प्रकार तीन तरहसे वध होता है । जो मनुष्य मांस लाता है, जो मँगाता है, जो पशुके अंग काटता है, जो खरीदता है, जो बेचता है, जो पकाता है और जो खाता है, वे सभी मांस खानेवाले (घातकी) हैं ।'

अतएव मांस-भक्षण धर्मका हनन करनेवाला होनेके कारण सर्वथा महापाप है । धर्मके पालन करनेवालेके लिये हिंसाका त्यागना पहली सीढ़ी है । जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव नहीं है, वहाँ धर्मको स्थान ही कहाँ है ?

(४) भीष्मपितामह राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्धयस्व भारत ॥

(महा० अनु० ११६ । ३५)

'हे युधिष्ठिर ! वह मुझे खाता है इसलिये मैं भी उसे खाऊँगा यह मांस शब्दका मांसत्व है ऐसा समझो ।' इसी प्रकारकी बात मनु महाराजने कही है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(मनु० ५ । ५५)

मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोकमें मुझे (मेरा मांस) खायगा । मांस शब्दका यह अर्थ विद्वान् लोग किया करते हैं ।

आज यहाँ जो जिस जीवके मांसको खावेगा किसी समय वही जीव उसका बदला लेनेके लिये उसके मांसको खानेवाला बनेगा । जो मनुष्य जिसको जितना कष्ट पहुँचाता है समयान्तरमें उसको अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप वह कष्ट और भी अधिक मात्रामें (मय व्याजके) भोगना पड़ता है, इसके सिवा यह भी युक्तिसंगत बात है कि जैसे हमें दूसरेके द्वारा सताये और मारे जानेके समय कष्ट होता है वैसा ही सबको होता है । परपीड़ा महापातक है, पापका फल सुख कैसे होगा ? इसीलिये भीष्मपितामह कहते हैं—

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः ॥

(महा० अनु० ११६ । ३१)

मांसाहारी जीव अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हुए अन्तमें कुम्भीपाक-नरकमें यन्त्रणा भोगते हैं और दूसरे उन्हें बलात्कारसे दबाकर मार डालते हैं और इस प्रकार वे बार-बार नाना योनियोंमें भटकते रहते हैं।

(५) भगवान्‌ने सृष्टिमें जिस प्रकारके जीव बनाये हैं उनके लिये उसी प्रकारके आहारकी रचना की है। मांसाहारी सिंह, कुत्ते, भेड़िये आदिकी आकृति, उनके दाँत, जबड़े, पञ्जे, नख और हड्डी आदिसे मनुष्यकी आकृति और उसके दाँत, जबड़े, पञ्जे, नख और हड्डीकी तुलना करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यका खाद्य अन्न, दूध और फल ही है। जल-चिकित्साके प्रसिद्ध आविष्कारक लूईकूने महोदयने भी कहा है कि 'मनुष्य मांसभक्षी प्राणी नहीं है। वह तो मांस-भक्षण करके मनुष्यकी प्रकृतिके विरुद्ध कार्य कर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको बुलाता है।' मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही सौम्य है, सौम्य प्रकृतिवाले जीवोंके लिये अन्न, दूध, फल आदि सौम्य पदार्थ ही स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। गौ, बकरी, कबूतर आदि सौम्य प्रकृतिके पशु-पक्षी भी मांस न खाकर घास, चारा, अन्न आदि ही खाते हैं। मांसाहारी पशु-पक्षियोंकी आकृति सहज ही क्रूर और भयानक होती है। शेर, बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदिको देखते ही इस बातका पता लग जाता है। महाभारतमें कहा है—

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगर्द्धिनः ।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव ॥
अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च ।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथामिषम् ॥
(महा० अनु० ११६ । १-२)

'शोक है कि जगत्में क्रूर मनुष्य नाना प्रकारके पवित्र खाद्य पदार्थोंको छोड़कर महान् राक्षसकी भाँति मांसके लिये लालायित रहते हैं तथा भाँति-भाँतिकी मिठाइयों, तरह-तरहके शाकों, खाँड़की बनी हुई वस्तुओं और सरस पदार्थोंको भी वैसा पसंद नहीं करते जैसा मांसको ।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि मांस मनुष्यका आहार कदापि नहीं है ।

(६) भोजनसे ही मन बनता है, 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन,' कहावत प्रसिद्ध है । मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है उन्हीं पशु-पक्षियोंके-से गुण, आचरण आदि उसमें उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी आकृति क्रमशः वैसी ही बन जाती है । इससे वह इसी जन्ममें मनुष्योचित स्वभावसे प्रायः च्युत होकर पशु-स्वभावापन्न, क्रूर और अमर्यादित जीवनवाला बन जाता है और मरनेपर वैसी ही भावनाके फलस्वरूप तथा अपने कर्मोंका बदला भोगनेके लिये उन्हीं पशु-पक्षियोंकी योनियोंको प्राप्त होकर महान् दुःख भोगता है । भीष्मपितामह कहते हैं—

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥

(महा० अनु० ११६ । ३७)

'प्राणी जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है उस-उस शरीरसे वैसा ही फल पाता है ।'

इससे सिद्ध है कि मांसाहारी मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, वैसा ही पशु-पक्षी आगे चलकर स्वयं बन जाता है।

(७) जब हम किसी जीवके प्राणोंका संयोग करनेकी शक्ति नहीं रखते, तब हमें उनके प्राणहरण करनेका वस्तुतः कोई अधिकार नहीं है । यदि करते हैं, तो वह एक प्रकारसे महान् अत्याचार और पाप है। मांसाहारी ऊपर लिखे अनुसार स्वयं प्राणीवध न करनेवाला हो तो भी प्राणीवधका दोषी है ही, क्योंकि प्रकारान्तरसे वही तो प्राणीहिंसामें कारण है ।

(८) मांसाहारी मनुष्य निर्दय हो ही जाता है, और जिसमें दया नहीं है उसके अधर्मी होनेमें क्या सन्देह है ? मांसभक्षी मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि 'मांस खाकर कितना बड़ा निर्दय कार्य कर रहा हूँ । मेरी तो थोड़ी देरके लिये केवल क्षुधाकी निवृत्ति होती है, परन्तु बेचारे पशु-पक्षीके प्राण सदाके लिये चले जाते हैं ।' प्राणनाशके समान कौन दुःख है, संसारमें सभी प्राणी प्राणनाशसे डरते हैं ।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः ॥

(महा० अनु० ११६ । २७)

'हे भारत ! मरण सभी जीवोंके लिये अनिष्ट है, मरणके समय सभी जीव सहसा काँप उठते हैं ।'

जिस मनुष्यके हृदयमें दया होती है, वह तो दूसरेके दुःखको देख-सुनकर ही काँप उठता है और उसके दुःखको दूर करनेमें लग जाता है । परन्तु जो क्रूरहृदय मनुष्य पापी पेटको भरते और जीभको स्वाद चखानेके लिये प्राणियोंका वध करते हैं, वे तो स्वाभाविक ही निर्दयी हैं । निर्दयी मनुष्य भगवान्से या अन्यान्य जीवोंसे कभी दयाकी माँग नहीं कर सकता ।

दयालु पुरुष ही संकटके समय ईश्वरकी तथा अन्यान्य जीवोंकी दयाका पात्र होता है । बड़े ही खेदका विषय है कि मनुष्य स्वयं तो किसीके द्वारा जरा-सा कष्ट पानेपर ही घबरा उठते हैं और चिल्लाने लगते हैं परन्तु निर्दोष मूक जीवोंको, इन्द्रिय-लोलुपता, बुरी आदत और प्रमादवश मार या मरवाकर खानेतकमें नहीं हिचकते ।

मनुष्य सबमें बुद्धिमान् और स्वभावसे ही सबका उपकारी जीव माना गया है । यदि वह अपने स्वभावको भुलाकर निर्दयताके साथ पशु-पक्षियोंकी हिंसामें इसी प्रकार उतारू रहेगा तो बेचारे पशु-पक्षियोंका संसारमें निर्वाह ही कठिन हो जायगा । अतएव मनुष्यको दयालु बनना चाहिये—

नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद्दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथापरे ॥

(महा० अनु० ११६ । १२)

'इस संसारमें प्राणोंके समान कोई और प्रिय वस्तु नहीं है, अतएव मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है उसी प्रकार दूसरोंपर भी करे।'

(९) मांसाहार स्वाभाविक ही स्वास्थ्यका नाशक है, इस बातको अब तो यूरोपके भी अनेकों विद्वान् और डाक्टर लोग मानने लगे हैं। इसके सिवा एक बात यह भी है कि जिन पशु-पक्षियों-का मांस मनुष्य खाता है, उनमें जो पशु-पक्षी रोगी होते हैं, उनके रोगके परमाणु मांसके साथ ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर उसे भी रोगी बना डालते हैं। इंगलैण्डके एक प्रसिद्ध डाक्टरने लिखा था कि 'इंगलैण्डमें कैंसरके रोगी दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। एक इंगलैण्डमें इस भयानक रोगसे तीस हजार मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं। यह रोग मांसाहारसे होता है। यदि मांसाहार इसी तेजीसे बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी सन्तानमें ढाई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांस बहुत देरसे पचता है, इससे मांसाहारी मनुष्य प्रायः पेटकी बीमारियोंसे पीड़ित रहते हैं। इसके सिवा अन्य भी अनेक प्रकारके रोग मांसाहारसे होते हैं। शास्त्रोंमें भी कहा है कि मांसाहारियोंकी आयु घट जाती है—

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद्भूतिमात्मनः॥

(महा० अनु० ११५। ३३)

'हिंसाजनित पाप हिंसा करनेवालोंकी आयुको नष्ट कर

देता है, अतएव अपना कल्याण चाहनेवालोंको मांसभक्षण नहीं करना चाहिये ।'

(१०) यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं मांसका वर्णन आता है परन्तु उनमें मांसत्यागके सम्बन्धमें बहुत ही जोरदार वाक्य हैं । प्रायः सभी शास्त्रोंमें मांस-भक्षणकी निन्दा करके मांसत्यागको अत्युत्तम बतलाया है । ऐसे हजारों वचन हैं, उनमें कुछ थोड़े-से यहाँ दिये जाते हैं—

मनुस्मृति—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥

(५ । ४५, ४९)

'जो निरपराध जीवोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है वह जीता रहकर अथवा मरनेके बाद भी (इहलोक अथवा परलोकमें) कहीं सुख नहीं पाता । मांसकी उत्पत्तिका विचार करते हुए प्राणियोंकी हिंसा और बन्धनादिके दुःखको देखकर मनुष्यको सब प्रकारके मांस-भक्षणका त्याग कर देना चाहिये ।'

यमस्मृति—

सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे ।
निवर्तने महत्पुण्यमिति प्राह प्रजापतिः ॥

'प्रजापतिका कथन है कि सभी प्रकारके मांसोंके भक्षणमें महान् दोष है और उससे बचनेमें महान् पुण्य है ।'

महाभारत अनुशासनपर्व—

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च ।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम् ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः ॥
(११५ । ३५–३६, ४७)

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः ॥
(११६ । ११)

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥
(११६ । १३)

'लोभसे, बुद्धिके मोहित हो जानेसे अथवा पापियोंका संसर्ग करनेसे बल और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंकी (हिंसारूप) अधर्ममें रुचि होती है ।'

'जो मनुष्य अपने मांसको दूसरेके मांससे बढ़ाना चाहता है

वह जिस किसी योनिमें जन्म ग्रहण करता है वहाँ दुखी होकर ही रहता है।'

'जो अज्ञानी और अधम पुरुष देवपूजा, यज्ञ तथा वेदोक्त मार्गका आसरा लेकर मांसके लोभसे जीवोंकी हिंसा करता है वह नरकोंको प्राप्त होता है।'

'जो मनुष्य दूसरोंके मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर कोई नीच नहीं है; वह अत्यन्त निर्दयी है।'

'हे तात! वीर्यसे मांसकी उत्पत्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है (इसलिये यह बहुत घृणित पदार्थ है)। इसके भक्षणमें महान् दोष और त्यागसे पुण्य होता है।'

मांस न खानेका फल

मनुस्मृति—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥
(५।५३)

'जो सौ वर्षतक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो किसी प्रकारका मांस नहीं खाता उन दोनोंको बराबर पुण्य होता है।'

महाभारत अनुशासनपर्व—

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा॥
(११५।३०)

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः ॥

(११५ । ४२-४३)

'मांस न खानेवाला और प्राणियोंपर दया करनेवाला मनुष्य समस्त जीवोंका आश्रयस्थान एवं विश्वासपात्र बन जाता है; उससे संसारमें किसीको उद्वेग नहीं होता और न उसको ही किसीसे उद्वेग होता है । उसे कोई भी भय नहीं पहुँचा सकता, वह दीर्घायु होता है और सदा नीरोग रहता है । मांसके न खानेसे जो पुण्य होता है उसके समान पुण्य न तो सुवर्णदानसे होता है, न गोदानसे और न भूमिदानसे होता है ।'

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि मांस-भक्षण सभी प्रकारसे त्यागके योग्य है । मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई प्रमादवश मांस खाते हों वे इसपर भलीभाँति विचारकर, मनुष्यत्वके नाते, दया और न्यायके नाते, शरीर-स्वास्थ्य और धर्मकी रक्षाके लिये, और भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये, इन्द्रिय-संयम कर मांस-भक्षण सर्वथा छोड़कर सब जीवोंको अभयदान देकर स्वयं अभयपद प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करें । जो भाई मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर मांस-भक्षणका त्याग कर देंगे, उनका मैं आभारी रहूँगा और उनकी बड़ी दया समझूँगा । महात्मा तुलाधार श्रीजाजलिमुनिसे कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥

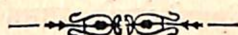
यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव ।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः ॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते ॥
लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ॥

(महा० शान्ति० २६२ । २४, २५, २८, २९, ३०)

'हे मुनिवर ! जिस मनुष्यसे किसी भी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं पहुँचता उसे किसी भी प्राणीसे भय नहीं रह जाता । जिस प्रकार बडवानलसे भयभीत होकर सभी जलचर जन्तु समुद्रके तीरपर इकट्ठे हो जाते हैं उसी प्रकार हे विद्वद्वर ! जिस मनुष्यसे भेड़ियेकी भाँति सब लोग डरते हैं वह स्वयं भयको प्राप्त होता है ।

अनेक प्रकारके तप, यज्ञ और दानसे तथा प्रज्ञायुक्त उपदेशसे जो फल मिलता है वही फल जीवोंको अभयदान देनेसे प्राप्त होता है ।

जो मनुष्य इस संसारके सभी प्राणियोंको अभयदान दे देता है वह सारे यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुकता है और बदलेमें उसे सबसे अभय प्राप्त होता है, अतएव प्राणियोंको कष्ट न पहुँचानेसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म ही नहीं है ।'



चित्त-निरोधके उपाय



किसी भाईका प्रश्न है कि 'चित्त बड़ा चञ्चल एवं प्रमादी है। इसे रोकना बड़ा कठिन है, यद्यपि शास्त्रकारोंने इसके निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उन उपायोंको पढ़ने, सुनने और समझनेकी चेष्टा भी की जाती है एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार साधन करनेका यत्किञ्चित् प्रयत्न भी किया जाता है; किन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं होता। अतः इसके निरोधका सुगम उपाय क्या है ?'

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिये चित्तका निरोध करना आवश्यक है। श्रुति, स्मृति तथा शास्त्रोंमें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करनेसे इसका निरोध हो सकता है किन्तु असल बात तो यह है कि साधकगण इसके लिये यथेष्ट प्रयत्न तो करते नहीं, केवल सुगम उपाय ही पूछते रहते हैं। इसीलिये अधिक मनुष्योंकी प्रायः यही शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। शास्त्रकारोंने चित्त-निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उनमेंसे किसीके लिये कोई उपाय सुगम पड़ता है और किसीके लिये कोई। स्वभावकी विभिन्नताके कारण महर्षियोंने अधिकारी-भेदसे नानाविध साधनोंका उल्लेख

किया है । उनमेंसे मुझे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो-जो साधन सुगम प्रतीत होते हैं, उन्हें बतलानेका प्रयत्न करता हूँ ।

सबसे पहले इस बातको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि मन वशमें हुए बिना उसका निरोध होना कठिन है और पवित्र हुए बिना मनका वशमें होना कठिन है । इसलिये सर्वप्रथम मनको शुद्ध बनाना चाहिये । उसकी शुद्धिके लिये महात्माओंने एवं स्वयं भगवान्‌ने अनेक साधन बतलाये हैं । महर्षि पतञ्जलिने सुखी पुरुषोंसे मित्रता, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष और पापियोंके प्रति उदासीनता रखनेको चित्त-शुद्धिका साधन बतलाया है और चित्तके शुद्ध होनेसे ही प्रसन्नता होती है । तब चित्त-निरोध होता है ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (योग० १ । ३३)

भगवान् श्रीकृष्णने गीता अध्याय ५ श्लोक ११ में मन-शुद्धिके लिये आसक्तिको त्यागकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है । अन्य सभी साधु-महात्माओंने भी लगभग इसी प्रकार कहा है ।

इन सबका निचोड़ यही निकलता है कि सब भूतोंके हितमें रत रहकर निरभिमान एवं निःस्वार्थभावसे सबकी आत्माको सुख पहुँचाना ही अन्तःकरण-शुद्धिका उत्तम उपाय है । किन्तु इससे भी बढ़कर एक और उपाय है और वह है हरिके नाम-गुणका कीर्तन ।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

'बिना इच्छाके स्पर्श करनेपर भी जिस प्रकार अग्नि निश्चय ही जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्तवाले मनुष्योंद्वारा भी स्मरण किये हुए हरि पापोंको हर लेते हैं।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ, निरन्तर मुझे भजता है वह साधु ही माना जानेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

उपर्युक्त साधनोंसे पापोंका नाश हो जानेपर मन शुद्ध और स्वाधीन हो जाता है। फिर एकाग्र और निरोध हो जाना तो अत्यन्त ही सहज है। इस प्रकार शुद्ध और स्वाधीन हुआ मन परमानन्द-प्राप्तिके योग्य बन जाता है।

प्रथम यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि मनका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने अनेक बातें बतलायी हैं।

महर्षि पतञ्जलिने भी—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः (योग० १। ६)

'प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति चित्त (मन) की ये पाँच वृत्तियाँ बतलायी हैं।' इनके निरोधका नाम ही योग है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग० १।२)

किसी महात्माने चित्तकी क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं और किसीने केवल संकल्पको ही इसका स्वरूप कहा है। अपने-अपने सिद्धान्तोंके अनुसार सभीकी मान्यता ठीक है। अतः साररूपसे यह कहा जा सकता है कि संकल्पोंका आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं उसका नाम मन है। संकल्पोंका आधार होनेके कारण मन संकल्परूप भी कहा जा सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि संकल्पोंका निरोध किस सहज और सुगम उपायसे हो सकता है। किन्तु इससे भी पूर्व यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि संकल्पोंके बार-बार उठने तथा साधनके लिये रुचि न होनेमें प्रधान हेतु कौन-से हैं? इसके साथ ही साधनकालमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

इन विघ्नोंके विषयमें महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

(१।३०-३१)

'रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, वैराग्यका अभाव, भ्रम, चित्तभूमिकी अप्राप्ति, चित्तका विशेष समयतक स्थिर न रहना'—ये नव चित्तके विक्षेप हैं।

'दुःख, क्षोभ, अङ्गोंका फड़कना और श्वासोंका आना-जाना—ये सभी उपर्युक्त नव विक्षेपोंके साथ रहनेवाले हैं।' अन्य शास्त्रकारोंका भी न्यूनाधिकरूपसे प्रायः यही कहना है। इन सब विघ्नोंमें व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति और स्फुरणा—ये छः प्रधान हैं और इनमें भी आलस्य और स्फुरणा विशेष बाधक हैं।

अन्तःकरणमें अनेक सङ्कल्पोंके उत्पन्न होनेमें पूर्वार्जित सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मोंका संस्कार तथा बुरी आदत और विषयोंकी आसक्ति तथा साधनकी ओर रुचि न होनेमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका समुदाय एवं संशय, भ्रम और अश्रद्धा ही प्रधान हेतु हैं।

आसक्तिके नाशके लिये इस संसारके अनित्य, नाशवान् और क्षणभङ्गुर सम्पूर्ण पदार्थों और विषयभोगोंमें दोष और दुःखों-का बार-बार विचारकर उनमें वैराग्य एवं उनका यथोचित त्याग करना चाहिये।

प्रारब्ध कर्मका क्षय तो प्रायः भोगसे ही होता है और सञ्चित कर्मोंका यानी सम्पूर्ण पापोंका नाश निष्कामभावसे दुःखी मनुष्यों-की सेवा तथा ईश्वरके नाम-जपसे होता है।

बुरी आदत, संशय, भ्रम और अश्रद्धाके नाशके लिये सत्पुरुषों-का सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका विचार ही विशेष लाभप्रद है।

मन-निरोधके विषयमें गीता अ० ६ । ३४ में अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा था । अर्जुनकी शङ्काको स्वीकारकर उन्होंने यही उपदेश दिया कि यद्यपि मन चञ्चल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह स्थिर हो सकता है ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ । ३५)

'हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; पर अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें होता है ।' फिर सहजमें ही उसका निरोध हो जाता है ।

महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(योग० १ । १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उसका निरोध होता है ।'

सांख्यके रचयिता भगवान् कपिलदेवने भी अभ्यास और वैराग्यको चित्त-निरोधका साधन बतलाया है—'वैराग्याभ्यासात्' अन्य सभी शास्त्रकारोंका भी इस विषयमें प्रायः यही सिद्धान्त है । किसी भक्तका कहना है—

मन फुरनासे रहित कर, जौने विधिसे होय ।
चहै भक्ति चहै योगसे, चहै ज्ञानसे खोय ॥

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि अभ्यास और

वैराग्य ही चित्त-निरोधके उत्तम उपाय हैं। इसलिये विषयोंसे वैराग्य करके मनके निरोधार्थ कटिबद्ध होकर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रसङ्गपर अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है। त्रिगुणात्मक संसारके विषयभोगों और समस्त पदार्थोंमें तृष्णा और आसक्तिके आत्यन्तिक अभावका नाम वैराग्य है। इस सम्बन्धमें अन्य शास्त्रोंकी भी प्रायः यही मान्यता है। अभ्यास एक व्यापक शब्द है। उसकी व्याख्या विस्तृत है किन्तु विस्तार न कर केवल सार बातें ही बतलायी जाती हैं। इस विषयमें महर्षि पतञ्जलिजीका कहना है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (योग० १।१३)

अर्थात् परमात्मामें स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(योग० १।१४)

'वह अभ्यास निरन्तर दीर्घकालतक आदरपूर्वक किया हुआ दृढभूमि (स्थिति) वाला होता है।' भगवान् श्रीकृष्णका भी प्रायः यही कहना है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६।२६)

'स्थिर न रहनेवाला यह चञ्चल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर बार-बार परमात्मामें

ही निरोध करे। समस्त विघ्नोंके नाश एवं मनकी स्थिरताके लिये सबसे उत्तम और सहज उपाय ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन ही है। महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योग० १ । २३)

'ईश्वरकी भक्तिसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(योग० १ । २७—२९)

अर्थात् 'उस ईश्वरका नाम ॐकार है। उस ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। उससे समस्त विघ्नोंका अभाव और आत्माका साक्षात्कार भी हो जाता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

अर्थात् 'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।' इसलिये ईश्वरके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

अभ्यासके विषयमें और भी अनेक युक्तियाँ शास्त्रोंमें मिलती

हैं। उनमेंसे किसी एकके अनुसार साधन करनेपर मन स्थिर होना सम्भव है। उनमेंसे कतिपय प्रधान युक्तियाँ ये हैं।

(१) मन जहाँ जाय वहाँसे हटाकर उसको अपने अधीन करके परमात्मामें लगानेकी अपेक्षा भी, मन जहाँ-जहाँ जाय वहीं परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना और भी सहज तथा सुगम उपाय है। अतएव चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये इस युक्तिको काममें लानेकी कोशिश करनी चाहिये। ईश्वर सब जगह व्यापक है ही, अपनी समझके अनुसार श्रद्धा और प्रेमसे उस परमेश्वरका सर्वत्र चिन्तन करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है।

(२) भगवान् शिव या विष्णुकी अथवा अपनेको जो देव इष्ट हो उसीकी मूर्ति या चित्रको सम्मुख रखकर श्रद्धा और प्रेमसे उस भगवान्‌के मुखारविन्दपर नेत्रोंकी वृत्तिको स्थिर स्थापन करके अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया और प्रेमका अनुभव करता हुआ उस आनन्दमय परमेश्वरके मुखकमलपर मनरूपी भँवरको स्थिर स्थापन करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र होकर निरुद्ध हो सकती हैं।

(३) प्रातःकाल सूर्यके सम्मुख खड़े होकर नेत्र मूँदकर सूर्यकी ओर देखनेसे एक महान् प्रकाशका पुञ्ज सर्वत्र समभावसे प्रतीत होता है, उसको लक्ष्य करके, उससे हजारों गुना अधिक एक प्रकाशका पुञ्ज आकाशकी तरह सर्वत्र समानभावसे परिपूर्ण हो रहा है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, वही परमात्मा-

का तेजोमय स्वरूप है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण संसारको भूलकर उस तेजोमय परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंको लगानेसे भी चित्त स्थिर हो सकता है ।

(४) दधीचि, ऋषभदेव, जडभरत, शुकदेव आदि विरक्त मुनियोंके चरित्रोंकी ओर लक्ष्य जानेसे स्वाभाविक ही वैराग्यकी प्राप्ति होती है । इसलिये जो वीतराग मुनि हैं, संसारमें जिनकी आसक्ति बिल्कुल नहीं है, ऐसे ज्ञानी महात्माओंका ध्यान करनेसे भी चित्तमें वैराग्य होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है । चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करनेका यह भी एक सरल उपाय है । महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (योग० १ । ३७)

'अथवा वीतराग पुरुषोंके चिन्तनसे चित्त स्थिर होता है ।'

(५) हृदयदेशमें एक सुषुम्ना नामकी नाड़ी है, उसी नाड़ीमें परमानन्द विराजमान है । गीतामें लिखा है—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' 'मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ ।' परमात्मा विज्ञानानन्दरूप हैं इसलिये उस नाड़ीमें चेतन और आनन्दकी भावना करनी चाहिये । उस नाड़ीका शरीरकी सम्पूर्ण नाड़ियोंसे सम्बन्ध है । इसलिये उसके बन्द हो जानेसे सारी नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं । उस नाड़ीकी चाल साधारणतया एक मिनिटमें ७५ या ८० बार समझी जाती है । उसी नाड़ीकी चालपर हमारे हाथोंकी और मस्तककी नाड़ियाँ टकराती हैं । उसकी प्रत्येक चालके साथ ॐ का जप करते हुए विज्ञानानन्दघन परमात्माकी भावना उस नाड़ीमें

की जाय तो चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह साधन कुछ कठिन अवश्य है परन्तु शब्दरहित—जहाँ विशेष बाधा देनेवाले शब्द न सुनायी दें, ऐसे एकान्त स्थानमें एकाकी रहकर प्रयत्न किया जाय तो सिद्ध हो सकता है। महर्षि पतञ्जलिने भी लिखा है—

विशोका वा ज्योतिष्मती। (योग० १। ३६)

'अथवा शोकरहित प्रकाशमय चित्तकी अवस्थाविशेष भी मनको स्थिर करनेवाली होती है।' यह अवस्था उपर्युक्त प्रकारसे सुषुम्ना-नाड़ीमें ध्यान लगानेसे प्राप्त होती है।

(६) जहाँपर बाधा पहुँचानेवाली बाहरकी जोरकी ध्वनि न सुनायी दे, ऐसे एकान्त और पवित्र स्थानमें अकेला स्वस्तिक आदि किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठकर दोनों अँगुलियोंसे कानोंके दोनों छिद्रोंको बन्दकर अपने भीतर अपने-आप ही होनेवाले अनहद शब्द सुननेमें ध्यान लगावे। प्रथम तो उसको अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देंगे। आगे चलकर जेबघड़ीके खटकेके समान सूक्ष्म शब्द सुनायी देगा, उसकी संख्या एक मिनिटमें करीब ७५ या ८० के लगभग हो सकती है। उस शब्दमें 'राम' 'शिव' या 'ॐ' की भावना करनेसे भावनाके अनुसार ही ध्वनि सुनायी देने लगेगी। उस शब्दमें ब्रह्मकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर मनुष्यको विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह साधन देखनेमें कुछ कठिन-सा प्रतीत होता

है परन्तु रात्रिके मध्यमें या उषाकालमें तत्पर होकर साधन करनेसे कोई विशेष दुर्गम नहीं है।

(७) भ्रमरके गुञ्जारकी तरह एकतार ॐकारकी ध्वनि करते हुए उसमें परमेश्वरके स्वरूपकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें स्थिर हो सकती हैं।

(८) जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा और प्रेम हो उसका ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

यथाभिमतध्यानाद्वा । (योग० १ । ३९)

'जिसका जो अभीष्ट हो उसीमें ध्यान लगानेसे भी चित्तकी एकाग्रता होकर वृत्तियोंका निरोध हो सकता है।'

(९) ॐकारका स्मरण करते हुए श्वासको बाहर निकालकर उसे यथाशक्ति सुखपूर्वक बाहर ही बारम्बार स्थिर करने और उसमें परमेश्वरकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । (योग० १ । ३४)

'अथवा प्राणोंको बाहर फेंकने और ठहरानेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है।'

(१०) पवित्र एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक आसनसे बैठकर नेत्रोंको बन्द करके और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको विषयोंसे रोककर सम्पूर्ण कामनाओं और संकल्पोंका त्याग करके विज्ञानानन्द-

घन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। कोई स्फुरणा चित्तमें हो तो उसी समय उसका त्याग कर देना चाहिये अर्थात् वैराग्य-युक्त चित्तसे संसार और शरीरको इस प्रकार विस्मरण कर देना चाहिये मानो वे हैं ही नहीं। इस प्रकार करना ही वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षको काटना है। परन्तु खयाल रखना चाहिये कि शरीर और संसारके विस्मरण करनेवालेकी वृत्तियाँ प्रकृतिमें लय होकर उसे निद्रा आनेका डर रहता है। इसलिये शरीर और संसारका विस्मरण करनेके साथ-साथ विज्ञानानन्दघन परमात्माका ध्यान करना चाहिये और दृढ़ताके साथ उसमें स्थित रहना चाहिये। यही उस परमात्माके स्वरूपकी शरण है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी स्थिर स्थिति हो जाती है।

(११) विवेक-बुद्धिके द्वारा साम, दाम, दण्ड और भेद-नीतिसे मनको समझानेसे भी परमात्मामें चित्तकी एकाग्रता और स्थिर स्थिति होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह भी परमात्माकी प्राप्तिका एक बहुत उत्तम उपाय है।

(क) मनको मित्र समझकर प्रेमसे समझानेका नाम साम-नीति है। जैसे कोई समझदार मनुष्य अपने भोले मित्रको समझाता है वैसे ही मनको भी समझाना चाहिये कि 'प्यारे मित्र! तुम्हारा स्वभाव चञ्चल है, तुम बिना विचारे हर काममें पड़ जाते हो और फँस जाते हो, इससे बहुत हैरान होना पड़ता है इसलिये तुम मेरी सलाहके बिना कोई काम न किया करो। विचार करके

देखो, जब-जब तुम मेरी सम्मतिके बिना गये तब-ही-तब भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा और पड़ रहा है। इसलिये तुम्हें अपनी इस मूढ़ता और चञ्चल स्वभावका त्याग करना चाहिये और मेरी सम्मतिके बिना एक क्षण भी तुम्हें न तो कहीं जाना चाहिये तथा न कुछ करना ही चाहिये। हे मन ! जिस संसारके विषयोंको तुम सुखरूप समझकर चिन्तन करते हो, वास्तवमें उनमें सुखका लेशमात्र भी नहीं है, भ्रान्तिसे ही तुमको उनमें सुख प्रतीत होता है। इसलिये तुमको विचार करना चाहिये, नहीं तो, आगे चलकर बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।'

(ख) मनको लोभ देकर समझानेका नाम दाम-नीति है। जैसे—हे मन ! विषयोंमें जो सुख है वह देश और कालद्वारा परिमित होनेके कारण अनित्य और क्षणभंगुर है। जैसे स्वादु भोजन जिह्वाको प्रिय होता है किन्तु श्रोत्र-त्वचादिको नहीं, सो भी थोड़े ही कालके लिये, सदा नहीं। ऐसे ही रुचिकर सङ्गीतसे श्रोत्रको तृप्ति होती है; किन्तु जिह्वा, नासिकादिकी नहीं, वह भी अल्पकालके लिये ही। इससे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक सांसारिक सुख देश और कालके द्वारा परिमित होनेके कारण नाशवान् और क्षणभंगुर है।

परमानन्द परमात्माकी प्राप्तिके सामने तो यह सांसारिक सुख सूर्यके सम्मुख खद्योतके सदृश भी नहीं है। विषयोंमें जो सांसारिक सुखोंकी प्रतीति होती है वह वास्तवमें सुख नहीं है, सुखका आभास है। क्योंकि जब असली सुखकी प्राप्ति होती है तब ये सांसारिक सुख, सूर्यके उदय होनेपर तारोंके समान छिप जाते हैं। ऐसे इन नाशवान्, क्षणभंगुर सांसारिक सुखोंकी ओरसे

वृत्तियोंको हटाकर नित्य शान्तमय और परमानन्दमय सुखके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये ।

सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमें जितना परिश्रम होता है, परमानन्दकी प्राप्तिमें उतना परिश्रम भी नहीं है । ज्यों-ज्यों इसका रहस्य समझमें आता है त्यों-ही-त्यों साधनकालमें भी उत्तरोत्तर सात्त्विक सुखकी वृद्धि होती चली जाती है । इसलिये इन सांसारिक भोगोंकी ओरसे हटकर तुम्हें उस सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर परमात्मामें ही अपनेको लगाना चाहिये ।

(ग) यदि मन साम या दाम-नीतिसे नहीं माने तो फिर उसे दण्ड-नीतिसे रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये । भय दिखलाकर वशमें करनेका नाम दण्ड-नीति है । जिस प्रकार राजा शत्रुको भय दिखलाकर उसको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार मनको अपने अधीन करना चाहिये । यथा—

हे मन ! यदि तू संसार और विषयोंका चिन्तन करेगा तो मैं सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर वनमें या गिरिगुहामें जाकर व्रत-उपवासादि तपसे वृत्तियोंका शमन करूँगा । भूखके कारण मेरे प्राण भले ही चले जायँ, उनकी परवा नहीं, किन्तु तेरा मूलोच्छेद अवश्य कर दूँगा । संसारके चिन्तनसे तेरी और मेरी इतनी भयानक दुर्दशा हुई और हो रही है । मूर्खता और चपलताके कारण तू इस बातको नहीं समझता । इसलिये यम-नियमादि साधनोंद्वारा जिस किसी प्रकारसे भी हो, तेरे नाशके लिये उपाय किया जायगा । क्योंकि जब मैं ईश्वरका ध्यान करने बैठता हूँ तभी तू नाना प्रकारके सांसारिक चित्रोंको लाकर उच्चाटन पैदाकर मुझे

ईश्वर-चिन्तनसे वञ्चित कर देता है, और जब मैं जप या पाठ करता हूँ तब तू उसमें संसारके मिथ्या कामोंकी आवश्यकता दिखलाकर जप और पाठमें शीघ्रता कराता है, जिससे मैं कृतकार्य नहीं हो पाता । जब मैं नित्यकर्म और ईश्वरकी भक्तिको धैर्यके साथ करना चाहता हूँ तब तू निद्राका आश्रय लेकर मुझको मोहित कर देता है । विचार करनेसे माळूम होता है कि तू ही मेरा महान् शत्रु है । इसलिये जिस किसी प्रकारसे हो, तेरा नाश करना उचित है । नहीं तो इस दुःखमय संसारका चिन्तन छोड़कर शीघ्र अमृतमय परमात्माका चिन्तन कर, जिससे तेरा-मेरा दोनोंका कल्याण हो ।

(घ) अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये दो मित्रोंमें या सम्बन्धियोंमें परस्पर दोष दिखलाकर उनमें वैमनस्य उत्पन्न करा देनेका नाम भेद-नीति है । विषय-भोगोंको लेकर मन और इन्द्रियोंकी जो परस्परकी प्रीति है, उसे तोड़नेके लिये इस भेद-नीतिसे भी काम लेना चाहिये ।

पहले इन्द्रियोंको यों समझाना चाहिये—

मन लोभी मन लालची, मन चञ्चल मन चोर ।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और ॥

हे इन्द्रियो ! यह मन बड़ा चञ्चल, लोभी एवं मूर्ख है, मनकी बात सुनकर बिना विचारे हठात् किसी कार्यमें नहीं लगना चाहिये । यदि काम, क्रोध और लोभके पञ्जेमें फँसे हुए मनकी बात सुनकर झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार और हिंसादि कर्म किये जायँगे तो इस लोक और परलोकके भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा । जैसे झूठ, कपट करनेसे राजदण्ड, इज्जतकी हानि एवं

नरककी प्राप्ति होती है वैसे ही चोरी और व्यभिचार आदिके करनेसे भी गाली, मार, अपकीर्ति और राजदण्ड होता है और फिर घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव तुम यदि अपना हित चाहती हो तो पापाचार और विषयोंके सेवनका त्याग करो एवं बुद्धिका आश्रय ग्रहण करके अपने कल्याणके लिये सदाचार और परमेश्वरकी सेवा-पूजादि कार्यमें लग जाओ।

मनको समझाना चाहिये कि ये इन्द्रियाँ अपना मतलब गाँठनेके लिये तुम्हारी सहायतासे विषयोंका सेवन करती हैं और अपना मतलब निकालकर तुम्हें बड़े भारी दुःखके गड़हेमें गिरा देती हैं। जैसे जिह्वा-इन्द्रियकी प्रेरणासे कुपथ्यको पथ्य मानकर उसे खानेमें और स्पर्शेन्द्रियकी प्रेरणासे स्त्री-सहवासके समय क्षणिक और नाशवान् विषयसुखमें आनन्दका अनुभव होता है। परन्तु परिणाममें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर नाना प्रकारकी पीड़ा और भारी दुःखोंका सामना करना एवं सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है एवं बल, वीर्य, तेज, कीर्ति, पुण्य और आयुका नाश हो जाता है। वैसे ही अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। कहनेका तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके वशमें हुआ तू नाना प्रकारके पाप करके नरककी घोर यातनाका पात्र बन जाता है। इसलिये हे मन! यदि तू असावधानीके कारण अपनेको नहीं सँभालेगा तो करोड़ों जीवोंकी जो दशा होती है वही दशा अपनी होगी। आज पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि जीव जो घोर कष्ट पा रहे हैं वह उनके मनुष्य-जन्ममें समझकर न चलनेका ही तो परिणाम है। इसलिये इस बार तू चेत जायगा तो बहुत उत्तम है, नहीं तो

महान् हानि है। अतएव तू सावधान हो। एवं मनुष्यके अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बिता। मनुष्य-जीवनका एक पल भी ईश्वर-चिन्तनके बिना बिताना अपने-आपको मृत्युके मुखमें ढकेलना है। क्योंकि अन्तकालमें मनुष्य जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है उसीको प्राप्त होता है। और सदा जैसा अभ्यास करता है प्रायः अन्तकालमें उसीका चिन्तन होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस नाशवान् संसारका चिन्तन करना ही पुनः-पुनः मृत्युके मुखमें पड़ना है। अतएव संसारके चिन्तनको मृत्युके समान समझकर उससे हटकर हर समय ईश्वरका चिन्तन करना चाहिये। व्यवहार-कालमें भी जब सब वृत्तियाँ संसारके पदार्थोंकी ओर जायँ, सर्वत्र ईश्वरका ही चिन्तन करना चाहिये। गीतामें कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है।' इस प्रकार मनको समझाकर नित्य-निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें लगानेसे वह स्थिर हो जाता है और साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।



ध्यानसहित नाम-जपकी महिमा



आज उस परम दयालु परमात्माकी कृपासे ध्यानसहित नामके जपपर कुछ लिखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। वास्तवमें तो इस विषयपर वे ही पुरुष लिख सकते हैं जो भगवान्‌के भजन और ध्यानके तत्त्वको जाननेवाले हैं और निरन्तर भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध रहते हैं एवं भगवान्‌की स्मृतिसे जिनके शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंमें अश्रुपात होते रहते हैं। जलके वियोगमें मछलीकी भाँति भगवान्‌की विस्मृतिसे विकल हो उठते हैं और भगवान्‌का भजन-ध्यान जिनको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, ऐसे महापुरुषोंका ही इस विषयमें लिखनेका अधिकार है। उन्हींके लेखोंसे संसारको लाभ पहुँच सकता है।

मुझ-सरीखे पुरुषका इस विषयमें लिखना अनधिकार चेष्टा करना है; किन्तु प्रेमी सज्जनोंकी प्रेरणासे, अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार पाठकोंकी सेवामें कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जो लोग भगवान्‌के भजन-ध्यानरूप साधनके रहस्यको नहीं जानते, वे लोग थोड़े ही दिनोंमें साधनसे ऊब जाते हैं और कुछ तो साधनको छोड़ भी देते हैं। जैसे कोई विद्या पढ़ता हुआ बालक खेल-तमाशेमें आसक्त या इम्तहानमें फेल होनेके कारण अथवा और किसी कारणसे उकताकर विद्याके अभ्यासको छोड़नेपर

विद्यारूपी धनसे वञ्चित रह जाता है, वैसे ही वे भगवत्-प्राप्तिरूप अमूल्य रत्नसे वञ्चित रह जाते हैं।

कोई-कोई मन्द साधन करते भी रहते हैं और पूछनेपर वे ऐसा कहा करते हैं कि जब हम भजन-ध्यान करनेके लिये बैठते हैं तब संसारके संकल्प, निद्रा और आलस्य आदि आ घेरते हैं अतएव विशेष आनन्द नहीं आता। इसलिये उससे रुचि हटकर हमारा साधन ढीला पड़ गया। वे लोग भजन-ध्यानके द्वारा आरम्भमें ही पूर्ण आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं। यह भारी भूल है। अभी तो भजन-ध्यानका जैसा साधन होना चाहिये वैसा साधन ही नहीं हुआ, फिर आनन्द कैसा?

हाथसे माला फेरते हैं, मुँहसे राम-राम कहते हैं और मनसे संसारके विषयोंका चिन्तन करते हैं, यह तो संसारका भजन है, रामका नहीं।

करमें तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख मायँ।
मनुवाँ तो चहुँदिसि फिरे, यह तो सुमिरन नायँ॥

किसी-किसीके हाथसे माला गिर जाती है और निद्राके वशीभूत होकर वे आसनपर ही ऊँघते रहते हैं। वे भगवान्‌के उपासक नहीं हैं, निद्रादेवीके उपासक हैं। ऐसे लोग असली आनन्दसे बहुत दूर हैं। उनका मन ही उनको धोखा दे रहा है। वास्तवमें भजन-ध्यानके प्रभाव और रहस्यको उन लोगोंने नहीं समझा।

भजन-ध्यानके प्रभाव और रहस्यको समझ लेनेपर निद्रा,

आलस्य और संसारकी स्फुरणाकी तो बात ही क्या है, खान-पानकी भी चिन्ता नहीं रह सकती। रात-दिन भजन-ध्यानकी ही धुन सवार हो जाती है। जैसे रुपयोंके प्रभावसे मोहित हुए व्यापारी, वैद्य, डाक्टर, वकील-बैरिस्टर आदि सभी लोग विषय-सम्पत्तिको प्रधान समझनेवाले समयको धन कमानेमें ही व्यय करते हैं; इससे अतिरिक्त उनको दूसरी बात अच्छी ही नहीं लगती, वैसे ही उनको भी भगवद्भजनके सिवा और कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती। उनको तो मधुरसे भी मधुर और पवित्रसे भी पवित्र ध्यानसहित हरिका नाम ही मंगलमय प्रतीत होता है।

इस घोर कलिकालमें सुखसाध्य और सर्वोत्तम साधन ध्यानसहित भगवान्‌का भजन ही है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सारा संसार क्षणभंगुर और नाशवान् है। केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सत् वस्तु है। इसलिये जो सदा-सर्वदा हमलोगोंको भगवान्‌का भजन, ध्यान करना ही सिखलाता है, वही माता, पिता, गुरु एवं हमारा सच्चा बन्धु है। संसारमें इससे बढ़कर हमारे लिये और कोई भी आवश्यक कार्य नहीं है। श्वासका कुछ विश्वास नहीं है। इसलिये जबतक स्वास्थ्य अच्छा है, वृद्ध-अवस्था और मृत्यु दूर है तभीतक जो कुछ करना हो, अति शीघ्रताके साथ कर लेना चाहिये।

अहो! भयङ्कर कष्ट है, भारी आपत्ति है, जो कि विषयरूपी काँचके लिये भजन-ध्यानरूपी अमूल्य रत्नको लोग बिसार रहे हैं।

प्रिय पाठकगण! उठो, जागो, सावधान होओ और अमृतमय

हरिके नाम और गुणोंको कानोंके द्वारा सुनो तथा वाणीके द्वारा कीर्तन करो और मनसे उनके स्वरूपका ध्यान करो। सम्पूर्ण संसारके भोगोंको तृणके समान त्यागकर शरीरसे भगवान्‌की सेवा करो और अपने इस अमूल्य समयका अमोलक कार्यमें ही उपयोग करो!

कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भी चित्तसे भगवान्‌को मत भूलो। पाप, प्रमाद और आलस्यमें दुःख और दोषोंको देखकर इनसे दूर हटो। विषयासक्त, नास्तिक और प्रमादी पुरुषोंके नजदीक भी मत जाओ और दीन-दुखी मनुष्योंकी सेवा करो।

मान, प्रतिष्ठा, कीर्तिको कलङ्कके समान समझो। शम, दम, तितिक्षा आदि अमृतमय साधनोंका सेवन करो। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि कूड़े-कचूड़ेको निकालकर हृदयरूपी घरको पवित्र करो।

शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि क्षणिक और नाशवान् हैं, इसलिये इनसे व्यथित मत होओ अर्थात् सदा समचित्त रहो या पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ईश्वरका किया हुआ विधान समझकर इनको सहर्ष स्वीकार करो।

शील, विद्या, गुण, त्याग और तेज आदिमें जो वृद्ध हैं ऐसे सदाचारी सज्जन महात्माओंके चरणोंका सेवन करो। ऐसे पुरुषोंका सङ्ग तीर्थसेवनसे भी बढ़कर है। इसलिये कुतर्कको छोड़कर उनके दिये हुए अमृतमय उपदेशका भगवत्-वाक्योंके समान आदर करो। अथवा निर्जन पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर

ध्यानसहित भगवान्‌के नामका जप तथा भगवत्-तत्त्वका विचार करो ।

ऊपर बतलाये हुए साधनोंके अनुसार चलनेवाला पुरुष भगवान्‌की दयासे, भगवान्‌के प्रभावको जानकर शीघ्रातिशीघ्र परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—किस प्रकारका नाम-जप करना उत्तम एवं लाभप्रद है। वाचिक, उपांशु या मानसिक ?

उत्तर—वाचिक जपसे उपांशु दसगुणा अधिक है और उपांशुसे मानसिक दसगुणा अधिक फलदायक है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

(मनु० २ । ८५)

'अग्निहोत्र आदि क्रियायज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है ।'

इससे मानसिक जप ही सबसे उत्तम है । मानसिक जप श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर किया जाय तो वह और भी विशेष लाभप्रद हो जाता है । वही जप निष्काम प्रेमभावसे किया जाय तो फिर उसकी महिमाका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता ।

प्रश्न—(क) क्या केवल नामके जपसे ही इष्टदेवके स्वरूप-का दर्शन हो सकता है, या—

(ख) जपके साथ-साथ इष्टदेवके स्वरूपका चिन्तन करना भी आवश्यक है ?

उत्तर-(क) श्रद्धापूर्वक प्रेमसे किये हुए केवल जपसे भी इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो सकता है।

महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।' (योग० २।४४)

इष्टदेवके नामके जपसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन होता है।

यदि इष्टदेवका निरन्तर चिन्तन करते हुए उपर्युक्त प्रकारसे जप किया जाय तो उसकी प्राप्ति और भी शीघ्र हो जाती है। इसलिये—

(ख) जपके साथ-साथ ईश्वरके स्वरूपका चिन्तन अवश्य करना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योग० १।२८)

उस परमेश्वरके नामका जप और उसके अर्थका यानी स्वरूपका चिन्तन करना—इसीका नाम ईश्वरप्रणिधान एवं ईश्वरकी शरण समझना चाहिये।

इससे सब विघ्नोंका नाश एवं परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है।

प्रश्न-जपके सात्त्विक, राजस और तामस-तीन भेद किस कारणसे होते हैं?

उत्तर-जपके सात्त्विक, राजस और तामस भेद होनेमें भाव ही प्रधान कारण है। श्रद्धा, प्रेम तथा निष्कामभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ किया हुआ जप सात्त्विक समझा जाता है।

इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये किया हुआ जप राजसिक समझा जाता है।

दूसरोंके अनिष्टके लिये अज्ञानपूर्वक किया हुआ जप तामसी समझा जाता है।

प्रश्न—कौन-से नामका जप विशेष लाभप्रद है। 'राम-राम' या 'ॐ-ॐ' या 'शिव-शिव' या 'नारायण-नारायण' इत्यादि-इत्यादि ?

उत्तर—ईश्वरके सभी नाम समान हैं, इसलिये जिसका जिस नाममें प्रेम हो; उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है।

प्रश्न—जपके साथ ध्यान भगवान्‌के निराकार स्वरूपका करना चाहिये या साकार स्वरूपका ?

उत्तर—इसमें भी साधककी रुचि ही प्रधान है। जिसकी निराकार स्वरूपमें रुचि हो, उसके लिये निराकारका ध्यान और जिसकी साकारमें रुचि हो, उसके लिये साकारका ध्यान लाभदायक है। निराकार और साकारको व्यापक अग्नि और प्रज्वलित अग्निकी भाँति अभिन्न रूप समझकर उसके रहस्य और प्रभावको जानते हुए जो निराकारके सहित साकारका ध्यान करता है वह सर्वोत्तम है।

प्रश्न—कितनी संख्यामें जप करनेसे इष्टदेवके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं ? और शास्त्रोंमें कौन-से नाम-जपकी विशेष महिमा लिखी है ?

उत्तर—संख्याके विषयमें सब जगह एक नियम नहीं मिलता;

किन्तु भगवान्‌के नाम-जपकी महिमा अधिकांशमें सभी शास्त्रोंमें पायी जाती है। कलिसन्तरणोपनिषद्‌में लिखा है कि—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'

इस षोडश नामवाले मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे सब पापोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। रामायणमें श्रीरामनामकी, श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण आदि नामोंकी एवं महाभारतमें गोविन्द, हरि, नारायण, वासुदेव आदि बहुत-से नामोंकी तथा श्रुति-स्मृतियोंमें ॐ, तत्, सत् आदि नामोंके जपकी विशेष महिमा लिखी है। ऐसे ही प्रायः सभी नामोंकी शास्त्रोंमें जगह-जगह भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है।

कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्तिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृत्कृष्णस्य संस्मृतेः ॥
(विष्णुपु० ६ । ८ । २१)

'कलिके अत्यन्त उग्र पाप जो कि मनुष्योंको नरककी पीड़ा देनेवाले हैं, श्रीकृष्णका एक बार भी भली प्रकार स्मरण करनेसे तुरन्त लीन हो जाते हैं।'

सकृत्स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः ॥

'श्रीगोविन्द, एक बार भी स्मरण किये जानेसे मनुष्योंके सैकड़ों जन्मोंमें किये हुए पापोंके समूहको उसी प्रकार शीघ्र ही भस्म कर देते हैं जैसे रूईके ढेरको अग्नि।'

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
(बृ० नार० १ । ११ । १००)

'दुष्टचित्त पुरुषोंद्वारा भी स्मरण किये जानेपर भगवान् श्रीहरि उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं । जैसे अग्नि अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी जला ही डालता है ।'

न तावत्पापमस्तीह यावन्नामाहृतं हरेः ।
अतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तान्तरं वृथा ॥

'हरिके नामका जप करनेसे जितने पाप नष्ट हो सकते हैं उतने पाप संसारमें हैं ही नहीं, इसलिये अधिक पापोंके भयसे अन्य प्रायश्चित्तोंका करना व्यर्थ बतलाया है ।'

आचारहीनोऽपि मुनिप्रवीर
भक्त्या विहीनोऽपि विनिन्दितोऽपि ।
किं तस्य नारायणशब्दमात्रतो
विमुक्तपापो विशतेऽच्युतां गतिम् ॥

'हे मुनिश्रेष्ठ ! भगवान्‌के नामका जप करनेवाला मनुष्य यदि आचारहीन, भक्तिहीन तथा निन्दनीय भी है, तो भी उसको क्या भय है ? क्योंकि 'नारायण' शब्दके उच्चारणमात्रसे वह पापरहित होकर परम अविनाशी गतिको प्राप्त हो जाता है ।'

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि वासुदेवस्य कीर्तनात् ।
तत्सर्वं विलयं याति तोयस्थं लवणं यथा ॥

'जानकर अथवा बिना जाने भी वासुदेवका कीर्तन करनेसे समस्त पाप, जलमें पड़े हुए लवणके समान लीन हो जाते हैं।'

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥

(विष्णुपु० ६। ८। १९)

'जिसके नामका विवश होकर भी कीर्तन करनेसे पुरुष, सिंहसे डरे हुए गीदड़ोंके समान सम्पूर्ण पापोंसे तुरन्त मुक्त हो जाता है।'

यहाँतक भी लिखा है कि एक हरिके नामके जपसे ही सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

(पद्म० ६। ८०। १६१)

'जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण किया है उसने मानो मोक्षकी ओर जानेके लिये कमर कस ली है।' इस प्रकार नामके जपकी महिमा शास्त्रोंमें स्थल-स्थलपर भरी पड़ी है! लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे शास्त्रोंके वाक्योंका विस्तृत उल्लेख नहीं किया गया।

हरिके नामकी महिमाको अर्थवाद नहीं समझना चाहिये। जो कुछ महिमा शास्त्रोंमें लिखी है वह ध्रुव सत्य है। परन्तु श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण नामका प्रभाव समझमें नहीं आता तथा फल भी पूरा नहीं मिलता।

ईश्वरकी प्राप्तिके विषयमें संख्याका नियम सब जगह ठीक-ठीक लागू नहीं पड़ता। प्रेम और श्रद्धा जिसमें जितनी अधिक होती है, उसको उतनी ही जल्दी भगवत्प्राप्ति होती है।

यदि कहो कि फिर संख्याकी क्या आवश्यकता है? यह ठीक है, पर इसमें शास्त्रका विधान है एवं जप भी अधिक बन जाता है इसलिये भी संख्या सब प्रकारसे लाभप्रद है।

किन्तु भगवत्की प्राप्तिके लिये संख्याका ठेका नहीं करना चाहिये। ठेका करनेवाला सच्चा भक्त नहीं है। जो भगवान्की प्राप्तिसे भी बढ़कर भगवान्के प्रेमको एवं भजनको समझता है, वही भगवान्के नामके प्रभावको जाननेवाला सच्चा भक्त है। क्योंकि प्रेम और श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे किया हुआ भगवान्का भजन, भगवान्से भी बढ़कर है। तब फिर भगवान्से मिलनेके लिये भगवान्के जपकी संख्याका ठेका करना भारी भूल नहीं तो और क्या है?

राग, द्वेष, ममता और अभिमानको छोड़कर निन्दा, स्तुति, मान-अपमानको समान समझता हुआ जो पुरुष परवा छोड़कर भगवान्के भजन-ध्यानमें मस्त हुआ विचरता है, वही पुरुष मुक्त है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्तिको कोई-कोई तो बहुत ही कष्टसाध्य बतलाते हैं?

उत्तर—भगवत्-प्राप्ति कष्टसाध्य भी है और सुखसाध्य भी। जो कष्टसाध्य मानते हैं उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य। भगवान्में जिनकी श्रद्धा और प्रेम कम है उनके लिये भगवत्-प्राप्ति कष्टसाध्य है और जिनका भगवान्में प्रेम और विश्वास है उनके लिये भगवान्की प्राप्ति सुलभ है।

भगवत्-प्राप्तिमें श्रद्धा और प्रेम ही प्रधान है। नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये तो भगवान्की प्राप्ति सुलभ एवं सुखसाध्य ही है, क्योंकि भगवान्ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहजमें ही प्राप्त हो जाता हूँ।' और भी कहा है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'यह रहस्यसहित भगवत्-तत्त्वका ज्ञान सब विद्याओंका राजा तथा सब गोपनीयोंका भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फल-वाला और धर्मयुक्त है। साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

भगवान्के इन वचनोंसे और युक्तियोंसे भी भगवान्की प्राप्ति कष्टसाध्य प्रतीत नहीं होती।

भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिका सुलभ उपाय अपना निरन्तर चिन्तन करना ही बतलाया है ।

भला बतलाओ तो सही, भगवान्‌के निरन्तर चिन्तन करनेमें भी क्या कोई कष्ट है ? यदि इसमें भी कष्ट है तो फिर सुख किसमें है ? भगवान्‌का चिन्तन करनेसे तो सर्व पापोंका, अवगुणोंका और दुःखोंका नाश होकर उत्तरोत्तर परमानन्द एवं परम शान्तिकी वृद्धि होती जाती है । आरम्भसे लेकर अन्ततक साधन और सिद्धिमें आनन्द-ही-आनन्द है । इसलिये उस आनन्दस्वरूप साध्यदेवने इससे बढ़कर दूसरा कोई सुलभ उपाय नहीं बतलाया । फिर कष्टसाध्य कैसे ? बल्कि सुलभ और सुखसाध्य ही कहना युक्तियुक्त है ।

प्रश्न—भगवान्‌के भजन, ध्यानको आरम्भसे लेकर अन्ततक आनन्ददायक समझकर, साधक निरन्तर भजन, ध्यान करना चाहता है और अपनी शक्तिके अनुसार कोशिश भी करता है किन्तु फिर भी वह होता नहीं, इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमकी कमी होनेके कारण यथोचित चेष्टा नहीं की जाती । इसीलिये भजन-ध्यान निरन्तर नहीं बनता ।

प्रश्न—भगवान्‌में अतिशय प्रेम और श्रद्धा होनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेसे श्रद्धा होती है और श्रद्धासे प्रेम होता है । भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, गुण

और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा एवं शास्त्रोंद्वारा श्रवण, पठन और मनन करके उनके अनुसार चलनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभावका रहस्य समझमें आ जाता है। इससे उनमें पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो सकता है।

किसीमें भी क्यों न हो, जितना-जितना उसका प्रभाव समझमें आता है उतनी-उतनी श्रद्धा बढ़ती चली जाती है। जितनी श्रद्धा होती है उतना ही प्रेम हो जाता है। श्रद्धा, प्रेमके अनुसार ही भजन-ध्यानका साधन तेज होता चला जाता है। अतएव भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये उन महापुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम और अतिशय श्रद्धा है, जो नित्य-निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को भजते हैं। ऐसे महापुरुषोंके सङ्गसे ही भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम होता है। ऐसे पुरुषोंका सङ्ग नहीं मिले तो श्रद्धालु उत्तम जिज्ञासु पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक विचार करना चाहिये।

सारांश यह है कि संसारमें निष्कामभावसे किये हुए भजन-ध्यानके समान भगवत्प्राप्तिका और कोई भी सहज और सुगम उपाय नहीं है। वह होता है सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके विचार करनेसे। अतएव निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर भजन, ध्यान होनेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंका विचार तत्पर होकर करना चाहिये।



प्रेम और शरणागति



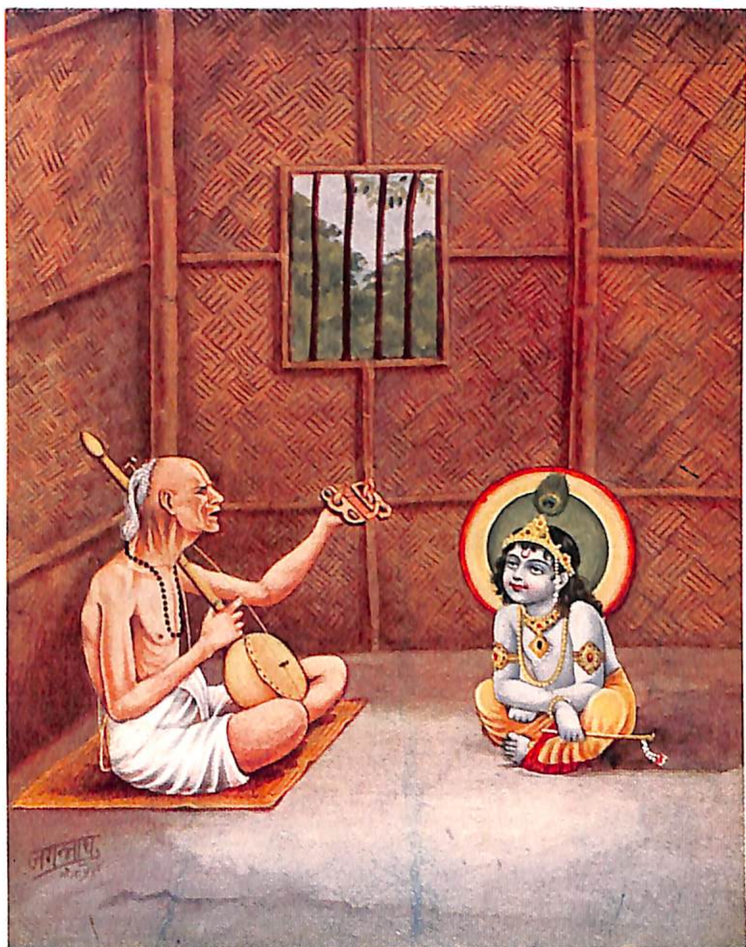
प्रेमका वास्तविक वर्णन हो नहीं सकता । प्रेम जीवनको प्रेममय बना देता है । प्रेम गूँगेका गुड़ है । प्रेमका आनन्द अवर्णनीय होता है । रोमाञ्च, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो उसके बाह्य लक्षण हैं, भीतरके रसप्रवाहको कोई कहे भी तो कैसे ? वह धारा तो उमड़ी हुई आती है और हृदयको आप्लावित कर डालती है । पुस्तकोंमें प्रेमियोंकी कथा पढ़ते हैं किन्तु सच्चे प्रेमीका दर्शन तो आज दुर्लभ ही है । परमात्माका सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवोंको पवित्र कर सकता है !

बरसते हुए मेघ जिधरसे निकलते हैं उधरकी ही धाराको तर कर देते हैं । इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेमकी वर्षासे यावत् चराचर-को तर कर देता है । प्रेमीके दर्शनमात्रसे ही हृदय तर हो जाता है और लहलहा उठता है । तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा । रामते अधिक राम कर दासा ॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥

समुद्रसे जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है । भगवान् समुद्र हैं और सन्त मेघ । भगवान्‌से ही प्रेम लेकर सन्त संसारपर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघका जल नदियों, नालोंसे होकर पृथ्वीको उर्वरा बनाते हुए समुद्रमें प्रवेश

सूरका समर्पण



नंदसुअनकी या छबि ऊपर सूरदास बलिहारी ।



कर जाता है, ठीक उसी प्रकार सन्त भी प्रेमकी वर्षा कर अन्तमें प्रभुके प्रेमको प्रभुमें ही समर्पित कर देते हैं।

प्रभु चन्दनके वृक्ष हैं और सन्त बयार। जिस प्रकार हवा चन्दनकी सुगन्धिको दिग्दिगन्तमें फैला देती है उसी प्रकार सन्त भी प्रभुकी दिव्य गन्धको प्रवाहित करते रहते हैं। सन्तको देखकर प्रभुकी स्मृति आती है। अतएव सन्त प्रभुके स्वरूप हैं। जैसे पपीहा और किसान तो केवल मेघके ही आश्रित हैं इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भी केवल सन्तोंके ही आश्रय रहते हैं।

प्रेमीके वाणी और नेत्र आदिसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है। उसका मार्ग प्रेमसे पूर्ण होता है। वह जहाँ जाता है वहाँके कण-कणमें, हवामें, धूलिमें उसके स्पर्शके कारण प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। उसका स्पर्श ही प्रेममय होता है, स्नेहसे ओत-प्रोत होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होहि न दृढ़ अनुराग॥

किन्तु शोक है, हमलोगोंका प्रेम तो काञ्चन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम तो सच्चे प्रेमके लिये हृदयमें कभी कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे

सकती है? अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है। अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त काञ्चनकी प्राप्तिमें ही पागल है। अभी तो हमलोगोंका चञ्चल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हम लोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभुके प्रेमको प्राप्त भी कैसे कर सकते हैं?

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है। मानो उसका अङ्ग-अङ्ग बोलता है। उसके सभी अवयवोंसे मानो एक शुद्ध सङ्केत एक निर्मल ध्वनि निकलती है। प्रेमी उपदेश देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले? गोपियोंने प्रेमकी शिक्षा किसे और कब दी थी? भरतजीने भक्तिका उपदेश कब और किसे दिया? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेममें जिस अनन्यता और आत्मसमर्पणकी सराहना की गयी है उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायणमें उसके प्राणस्वरूप प्रेम-मूर्ति श्रीभरतजी हैं।

यह हमारा शरीर ही क्षेत्र है। इस खेतमें कर्मरूप जैसा बीज बोया जायगा वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो परमात्माका प्रेमपूर्वक ध्यानसहित जप है। परन्तु जलके बिना यह बीज उग नहीं सकता। वह जल है हरि-कथा और हरि-कृपा। खेतमें गेहूँ बोनेसे गेहूँ, आम बोनेसे आम और राम बोनेसे राम ही निपजेगा। हम प्रेमपूर्वक भगवान्‌के ध्यान और जपका बीज बोवेंगे तो फलरूप-

में हमें प्रेममय भगवान् ही मिलेंगे। प्रेममय भगवान्का साक्षात्कार ही इस बीजका फल है। साधारण बीज तो धूलिमें पड़कर नष्ट भी हो जाता है परन्तु निष्काम रामनामका वह अमर बीज कभी नष्ट नहीं होता। जल है हरि-कथा और हरि-कृपा, जो सन्तोंके सङ्गसे ही प्राप्त होती है। उस हरि-कथा और हरि-कृपासे ही हरिमें विशुद्ध प्रेम होता है। अतएव प्रेमकी प्राप्तिका उपाय सत्सङ्ग ही है।

प्रभुमें हमारा प्रेम कैसा हो? श्रीरामका उदाहरण लीजिये। भगवान् श्रीराम लता-पतासे पूछते हैं—'तुमने मेरी सीताको देखा है?' गोपियोंको देखिये, वे वन-वन 'कृष्ण' 'कृष्ण' पुकार-पुकारकर अपने हृदय-धनको खोज रही हैं; जितनी ही अधिक तीव्र उत्कण्ठा प्रेममें होती है उतना ही शीघ्र प्रेममय ईश्वर मिलते हैं।

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जाननेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा

प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय सन्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देता है। बनानेवाली तो गन्ध ही है परन्तु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार सन्तलोग आनन्दमयके आनन्दकी वर्षा कर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौराङ्ग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है। पर ऐसे प्रेमी सन्तोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर पूर्ण है ही, किन्तु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं अतएव हमें सर्वतोभावसे भगवान्‌के शरण होना चाहिये। सर्वथा उसका आश्रित बनकर रहना चाहिये। सर्व प्रकारसे उसके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरण-को प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

मनसे, वाणीसे और कर्मसे शरण होना चाहिये। तभी

सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस परमेश्वरको मनसे भी पकड़ना चाहिये, वाणीसे भी पकड़ना चाहिये और कर्मसे भी पकड़ना चाहिये।

उनके किये हुए विधानोंमें प्रसन्न रहना, उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करना मनसे पकड़ना है। नामोच्चारण करना, गुणगान करना वाणीसे पकड़ना है। और उनकी आज्ञानुसार चलना कर्मसे यानी क्रियाओंसे पकड़ना है।

मनसे प्रभुको पकड़ना

(१) सच्चा भक्त प्रभुके प्रत्येक विधानमें दयाका दर्शन करता रहता है, प्रभु तो दया और न्यायके समुद्र हैं। परम प्रेमी और सच्चे सुहृद् तो केवल वही हैं। उनकी दयामें न्याय और न्यायमें दया ओतप्रोत है। सब कुछ प्रभुका पुरस्कार ही है। मृत्यु भी उनकी दयाका ही चिह्न है। मयूरध्वजका पुत्र कितना प्रसन्न हुआ जब उसने यह जाना कि उसको चीरकर उसका मांस श्रीकृष्णके सिंहको परसा जायगा। भक्त तो मृत्युको भी प्रभुका प्रसाद मानकर प्रेमसे गले लगाता है। वह उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें आनन्द और कल्याण मानता है। प्रभु तो बहुरूपियेके रूपमें सर्वत्र सर्वदा हमारे आसपास भीतर-बाहर गुप्तरूपसे विचरते हैं। जो प्रभुके तत्त्वको जान जाता है वह सर्वत्र प्रभुकी दया-ही-दयाका दर्शन करता है।

इस प्रकार शरण चले जानेपर सभी विधानोंमें आनन्द-ही-आनन्द मिलने लगता है। प्राणाधारकी लात खानेमें एक अपूर्व

मिठास है। उसमें प्यारसे भी अधिक मिठास है, दिलवरकी जूतियोंमें भी एक अपूर्व रस है।

(२) दीवालपर या हृदयपर या प्रभुकी मूर्तिपर मनसे प्रभुके नामको लिखकर चिन्तन करना या मनसे जप करना प्रभुके नामका चिन्तन है।

(३) सच्चिदानन्दरूपसे परमेश्वरका सर्वत्र आकाशकी भाँति नित्य-निरन्तर चिन्तन करना निराकार स्वरूपका चिन्तन करना है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगमायासे तेजोमय दिव्य विग्रहको देवता, मनुष्य आदिकी आकृतिमें धारण करते हैं—ऐसा समझकर उनकी दिव्य माधुरी मूर्तिका चिन्तन करना प्रभुके साकार स्वरूपका चिन्तन करना है। जैसे निर्मल आकाशमें परमाणुरूपसे एवं बादल, बूँद और ओलोंके रूपमें रहनेवाले जलको जो जल समझता है वही जलके सारे तत्त्वको जाननेवाला है। वैसे ही निराकार और साकार मिलकर ही प्रभुका समग्र रूप होता है। इसी तत्त्वको भगवान्‌ने गीताके ७ वें अध्यायमें विस्तारसे बतलाया है। इस रहस्यको समझकर ही प्रभुका चिन्तन करना असली चिन्तन करना है।

(४) प्रभु सारे सात्त्विक गुणोंके समुद्र हैं। उनमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, पवित्रता अपरिमित हैं। वे ज्ञान, वैराग्य, तेज और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। सारे संसारके जीवोंमें जो दया और प्रेम दीखते हैं वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया और प्रेमके एक बूँदके समान नहीं है।

सारे संसारका तेज और ज्ञान इकट्ठा किया जाय तो भी उस तेजोमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेजके एक अंशके बराबर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनके सारे गुणोंकी आलोचना करना उनके गुणोंका चिन्तन करना है।

(५) प्रभुने दशरथके यहाँ मनुष्य-आकृतिमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ नीति और प्रेमका व्यवहार करके नीति और प्रेमकी शिक्षा दी। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करके सेवाभाव सिखलाया। दुष्टोंको दण्ड दिया तथा ऋषि, मुनि और साधुओंका उद्धार किया। बड़े त्याग और सुहृदताके साथ प्रजाका पालन किया। यज्ञ, दान, तप, सेवा, व्रत, सत्य, ब्रह्मचर्यादि सदाचारोंको चरितार्थ करके हमलोगोंको दिखलाया। इस प्रकार उनके पवित्र चरित्रोंका अवलोकन करना उनकी लीलाओंका चिन्तन करना है।

वाणीसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुके नाम एवं मन्त्रका जाप, प्रभुके गुण और स्तोत्रोंका पठन-पाठन, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रेम और प्रभावका विस्तारपूर्वक उनके भक्तोंमें वर्णन करना, परस्पर भगवत्-विषयक ही चर्चा करना, विनयपूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलना इत्यादि जो प्रभुके अनुकूल वाणीका व्यवहार करना है वह वाणीद्वारा प्रभुको पकड़ना है।

कर्मसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुकी इच्छा एवं आज्ञानुसार निःस्वार्थभावसे केवल प्रभुके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके

लिये ही पतिकी आज्ञानुसार ही काम करती है वैसे ही प्रभुकी आज्ञाके अनुसार चलना ।

बन्दर अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचता है । बाजीगरको खुश करनेके लिये ही बन्दर नाचता है, कूदता है, खेलता है और कुतूहल करता है । हम भी तो अपने 'बाजीगर' के हाथके बन्दर ही हैं, फिर वह जिस प्रकार प्रसन्न हो वही नाच हमें प्रिय होना चाहिये । फूल तो वही जो चतुर-चिन्तामणिके चरणोंपर चढ़े, जीवन तो वही जो प्रभुके चरणोंमें चढ़ जाय !

कपड़ेकी चादरको जिस प्रकार मालिक चाहे ओढ़े, चाहे बिछावे, चाहे फाड़ दे, चाहे जला दे, चादर हर प्रकारसे तैयार है । ठीक उसी प्रकार भक्तको भी होना चाहिये । चाहे प्रभु भक्तको तारे चाहे मारे; वह जिस प्रकार चाहे रक्खे । फाड़ डाले, चाहे जला डाले—जैसे चाहे वैसे रक्खे, भक्तको तो हर क्रियामें मालिकका प्यारा हाथ देखकर सदा हर्षपूर्ण ही रहना चाहिये ।

हम तो प्रभुके हाथकी केवल कठपुतली हों । वह चाहे जैसा नाच नचावे । मालिककी इच्छामें ही प्रसन्न रहना हमारा परम धर्म है ।

सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करते हुए यज्ञ, दान, तप, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम कर्मोंका आचरण करना एवं सब भूतोंके हितमें रत होकर सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना कर्मोंके द्वारा प्रभुको पकड़ना है ।

याद रखिये, उसकी शरणमें चले जानेपर अहित भी 'हित' बन जाता है—

गरल सुधा सम अरि हित होई।

शरणमें जाकर यदि मर जाय तो वह मरण भी मुक्तिसे बढ़कर है। प्रभु कहते हैं—

जे करे आमार आस, ताँर करि सर्वनास।
तबु जे छाँड़े ना आस, ताँरे हई दासेर दास॥

अर्थात् 'जो मेरी आशा करता है मैं उसका सर्वनाश कर देता हूँ, इसपर भी जो मेरी आशा नहीं छोड़ता उसका मैं दासानुदास बन जाता हूँ।'

उपर्युक्त प्रकारसे शरण होनेपर वह प्रभुकी कृपाका सच्चा पात्र बन जाता है और प्रभुकी कृपासे ही उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है तथा उसको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अतएव हमलोगोंको संसारके सारे पदार्थोंको लात मारकर प्रभुको शरणमें जाना चाहिये। ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिसे भी वृत्तियाँ हटा लेनी चाहिये। यह अपार संसार एक अथाह सागर है। इसके पार जानेके दो ही साधन हैं—नावसे जाना अथवा तैरकर जाना। नाव प्रभुका प्रेम है और तैरना है सांख्ययोग यानी ज्ञान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तैरनेकी अपेक्षा नावमें जाना सुगम, निश्चित और सुरक्षित है।

प्रेमरूपी नौकाकी प्राप्तिके लिये प्रभुकी शरण जाना चाहिये।

तैरनेके लिये तो हिम्मत और त्यागकी आवश्यकता है। तैरनेमें हाथ और पैरसे लहरें चीरते हुए आगे बढ़ा जाता है। संसार-सागरमें विषयरूपी जलको हाथ और पैरसे फेंकते हुए हम तैर जा सकते हैं—उस पार जानेका लक्ष्य न भूलें और लहरोंमें हाथ-पैर न लिपटें। तैरनेके समय शरीरपर कुछ भी बोझ न होना चाहिये। इसी प्रकार विषयोंकी लहरोंको चीरकर आगे बढ़नेके लिये हमारे भीतर तीव्र और दृढ़ वैराग्यरूपी उत्साहका होना आवश्यक है। इसके बिना तो एक हाथ भी बढ़ना असम्भव है। हाथोंसे लहरें चीरता जाय, पैरोंसे जल फेंकता जाय।

सच्चे आत्मसमर्पणमें तो विषयासक्तिका त्याग अनिवार्य है ही। विषयोंमें प्रेम भी हो और समर्पण भी हो यह सम्भव नहीं।

काञ्चन-कामिनीसे भी अधिक मीठी छुरी मान-बड़ाई है। इसने तो बहुत ही बड़े-बड़े साधकोंको फँसा दिया, रोक दिया और अन्ततोगत्वा डुबा दिया। इससे सदा बचे रहना चाहिये।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ज्ञानसे तैरनेकी अपेक्षा प्रेममयी नित्य-नवीन नौकामें जाना सुखप्रद, सहज और आनन्ददायक है।

वह विशुद्ध प्रेम प्रभुकी अनन्य शरण होनेसे ही प्राप्त होता है, अतएव अनन्य शरण होकर जाना ही नौकासे जाना है। संसार-सागरको तो हर दशामें लाँघना ही पड़ेगा। 'उस पार' गये बिना तो प्राणवल्लभकी झाँकी होनेकी नहीं। फिर क्यों न उसीकी शरणमें जाकर उसीके हाथका सहारा बनकर चले चलें। भगवान्‌ने स्वयं प्रतिज्ञा भी की है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ६-७)

'हे अर्जुन ! जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।' यह संसारसमुद्र बड़ा ही दुस्तर है, इससे तरनेका सहज उपाय भगवान्‌की शरण ही है । भगवान्‌ने कहा है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

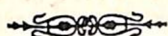
'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है । परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

अतएव हमलोगोंको प्रेम और प्रेममय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार भगवान्‌की अनन्य शरण* होना चाहिये ।

---

* अनन्ययोगसे उपासना, अव्यभिचारिणी भक्ति एवं अनन्यशरण— यह तीनों एक ही हैं ।

भावनाशक्ति



भावना अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। सङ्कल्प, निश्चय, चिन्तन, मनन आदि इसीके नाम हैं। भावना तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। आत्माका कल्याण करनेवाली जो ईश्वर-विषयक भावना है वह सात्त्विकी है। सांसारिक विषयभोगोंकी राजसी एवं अज्ञानसे भरी हुई हिंसात्मक भावना तामसी है। संसारके बन्धनसे छुड़ानेवाली होनेके कारण सात्त्विकी भावना उत्तम और ग्राह्य है, एवं राजसी-तामसी भावना अज्ञान और दुःखोंके द्वारा बाँधनेवाली होनेके कारण निकृष्ट एवं त्याज्य है।

स्वभावके अनुसार भावना, भावनाके अनुसार इच्छा, इच्छाके अनुसार कर्म, कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार स्वभाव, एवं

स्वभावके अनुसार पुनः भावना होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। उत्तम कर्म एवं उत्तम भावना* से बुरे कर्म एवं बुरी भावनाका† नाश हो जाता है। फिर अन्तःकरण पवित्र होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये हमलोगोंको उत्तम कर्म एवं उत्तम भावनाकी वृद्धिके लिये सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग‡ करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर सङ्गका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। सत्सङ्गके प्रभावसे दुष्ट मनुष्य भी उत्तम, एवं कुसङ्गके प्रभावसे अच्छा साधक पुरुष भी बुरा बन जाता है। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको दुराचारी, नास्तिक, दुष्ट स्वभाववाले नीच पुरुषोंके सङ्गसे सदा बचकर रहना चाहिये, यानी उनकी उपेक्षा करनी चाहिये। किन्तु उनमें घृणा या द्वेष-बुद्धि कभी नहीं करनी चाहिये। घृणा और द्वेष करना मानसिक पाप है, इससे अन्तःकरण दूषित होता है, और उससे बुरे सङ्कल्प पैदा होकर मनुष्यका पतन हो जाता है।

याद रखनेकी बात है कि बुरे सङ्गका प्रभाव तुरन्त होता है

---

* शास्त्रानुकूल यज्ञ, दान, तप, सेवा और भक्ति आदि उत्तम कर्म, एवं भगवान्‌के नाम, रूप और गुणका चिन्तन करना आदि उत्तम भावना है।

† झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि बुरे कर्म एवं अज्ञान और आसक्तिसे विषयोंका तथा द्वेषबुद्धिसे जीवोंका अहित चिन्तन करना आदि बुरी भावना है।

‡ सत्पुरुषोंके गुण, आचरण और उनके द्वारा दी हुई शिक्षाकी आलोचना एवं सत्-शास्त्रका अभ्यास करना भी सत्सङ्गके ही समान है।

एवं अच्छे सङ्गका प्रभाव कुछ विलम्बसे होता है। इसके सिवा उत्तम पुरुष संसारमें हैं भी बहुत कम। फिर उनका मिलना दुर्लभ है एवं मिलनेपर भी उनमें प्रेम और श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा और बुद्धिकी कमी, विषयोंकी आसक्ति, हृदयकी मलिनता, चित्तकी चञ्चलता, साधनोंकी कठिनाई, आलस्य तथा अकर्मण्यता और स्वभावके प्रतिकूल होनेके कारण सत्पुरुषोंके उपदेशका प्रभाव विलम्बसे होता है।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त साधनमें सुगमता, सुखकी प्रतीति, मन, इन्द्रिय और स्वभावके अनुकूल होनेके कारण संसारी पुरुषोंपर कुसङ्गका असर तुरन्त पड़ता है। किन्तु ऐसा समझकर हम-लोगोंको निराश नहीं होना चाहिये क्योंकि ईश्वरकी प्राप्ति असाध्य नहीं है। गुणातीत अव्यक्तके उपासकोंके लिये वह कष्टसाध्य, (गीता १२ । ५) और सगुणके उपासकोंके लिये सुखसाध्य (गीता १२ । ७) बतलायी गयी है।

जो मनुष्य किसी भी कार्यको असम्भव नहीं मानते, उनके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य बन जाते हैं। यूरोपमें नेपोलियन बोनापार्टने यह बात प्रत्यक्ष करके दिखला दी थी कि संसारमें उत्साह एक ऐसी वस्तु है, जो अल्प बलवालेको भी महान् वीर और धीर बना देती है। कहाँ तो यूरोपके बड़े-बड़े राजाओं-की बड़ी भारी सेना और कहाँ अकेले नेपोलियनके इने-गिने मनुष्योंका छोटा-सा दल ! केवल उत्साहके बलपर उसने सारे यूरोपको हिला दिया था। नेपोलियनका यह सिद्धान्त था कि

पुरुषप्रयत्नसाध्य कोई कैसा भी कठिन कार्य क्यों न हो, उसको असाध्य मानकर छोड़ देना अपनी कायरता और मूर्खताका परिचय देना है। नेपोलियनके हृदयरूपी कोशमें असम्भव शब्दको कहीं स्थान ही नहीं था। नेपोलियनने जैसे सांसारिक विजयके लिये कोशिश की थी, वैसे ही कल्याणकी इच्छावाले भाइयोंको बहुत उत्साहके साथ भगवत्प्राप्तिके लिये तत्पर होकर साधनकी चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यशरीर बहुत दुर्लभ है, और यह भगवान्की बड़ी भारी दयासे ही मिलता है।

असंख्यकोटि जीवोंमें मनुष्यसंख्या परिमित है, इससे सिद्ध है कि मनुष्यका शरीर मिलना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंमें भी बहुत-से नास्तिक हो जाते हैं, जो ईश्वरको भी नहीं मानते और माननेवालोंमें भी कितने ही ईश्वरकी प्राप्तिको भूलसे असम्भव समझकर उससे उपराम रहते हैं। कितने ही लोग कष्टसाध्य समझते हैं इसलिये उत्साहके साथ साधन न करनेके कारण ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। जो सुगम समझते हैं वे परमात्माकी कृपासे परमात्माको सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

यद्यपि हमलोग अधिकारी नहीं, किन्तु भगवान्ने जब हमलोगोंको मनुष्यशरीर दे दिया तो फिर हमलोग अपनेको अनधिकारी भी क्यों समझें? प्रभु बड़े दयालु हैं, महापापी पुरुषोंको भी वे आत्मोद्धारके लिये मनुष्यका शरीर देकर मौका देते हैं।

'कबहुँक करि करुणा नर देही । देत ईश बिनु हेतु सनेही ॥'

(तु० रा० उ०)

इतना ही नहीं, जो प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे भजते हैं उनको अपनी प्राप्तिके लिये वे सब प्रकारसे सहायता भी करते हैं। (देखिये गीता अ० १० । १० एवं ९ । २२)

साधनमें लगानेके लिये भगवान् उत्साह भी दिलाते हैं।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

(गीता २ । ३)

'हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो।'

इसलिये हमलोगोंको भी हृदयकी कायरता (कमजोरी) को त्यागकर अर्जुनकी भाँति भगवान्‌के वचनोंमें विश्वास करके श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर कोशिश करनी चाहिये। भगवान्‌के अंश होनेके नाते भी हमलोगोंको अपनी कमजोरी नहीं माननी चाहिये। अग्निकी चिनगारीकी भाँति जीवात्मा परमात्माका ही अंश है। (गीता १५ । ७) जैसे अग्निकी छोटी-सी भी चिनगारी वायुके बलसे सारे ब्रह्माण्डको जला सकती है ऐसे ही यह जीवात्मा सत्संगरूपी वायुके बलसे समस्त पापोंको जलाकर संसारसमुद्रको गोपदकी भाँति लाँघ सकता है। समुद्र लाँघनेके समय हनूमान् जिस प्रकार अपनी शक्तिको भूला हुआ था, वैसे

ही हमलोग अपनी शक्तिको भूले हुए हैं। और जाम्बवन्तके याद दिलानेपर जैसे हनूमान् तुरन्त समुद्रको लाँघ गया, वैसे ही हम-लोगोंको भी महात्मा पुरुषोंके वचनोंको सुनकर संसार-समुद्रको गोपदकी भाँति लाँघनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। सारे बन्दरोंमेंसे समुद्र लाँघनेकी शक्ति केवल हनूमान्‌की ही थी। वैसे ही सारे जीवोंके अन्दर संसार-समुद्रके लाँघनेकी शक्ति केवल मनुष्यकी ही बतलायी गयी है। जैसे श्रीरामचन्द्रजीने हनूमान्‌को ही पात्र समझकर अपनी अंगूठी दी थी, वैसे ही भगवान्‌ने मनुष्यको ही आत्मोद्धारका अधिकार दिया है।

ऐसे परम दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर आत्मोद्धारके लिये तन्मय होकर वैसे ही कोशिश करनी चाहिये जैसे संसारी मनुष्य अर्थ और कामके लिये तन्मय होकर चेष्टा करते हैं।

संसारके अर्थ और भोगोंमें जिनकी प्रीति है वे रात-दिन अर्थ और भोगोंका ही चिन्तन करते रहते हैं। उनकी अर्थ और भोगोंमें ही दृढ़ भावना हो रही है। कामी पुरुषोंको सारा संसार प्रायः स्त्रीमय दीखता है, यानी उनके मनमें प्रायः स्त्रीका ही चिन्तन होता रहता है। लोभी पुरुषोंकी वृत्ति अर्थमयी बन जाती है, वे जो भी कुछ कार्य करते हैं, उनमें रुपयोंके हानि-लाभको ही प्रधानता देते हैं। रुपयोंका लाभ ही उनकी दृष्टिमें लाभ है और रुपयोंकी हानि ही उनकी दृष्टिमें हानि है, क्योंकि वे अर्थके दास हैं। जब वे कोई कार्य करना चाहते हैं तो उसके पूर्व ही उनके हृदयमें यह भाव पैदा होता है कि इस कामके करनेमें हमें क्या लाभ होगा।

लाभ-हानिका निश्चय करके ही वे उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, नहीं तो नहीं। प्रभुके भक्तोंको इन अर्थी पुरुषोंसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अर्थी पुरुष जिस प्रकार अर्थके लिये कार्यमें प्रवृत्त होते हैं वैसे ही प्रभुके भक्तोंको प्रभुके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

यह संसार भगवान्‌मय है किन्तु मनुष्यको भ्रमसे अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना रूपसे दीखता है। जैसे कोई एक महान् पुरुष है, वह किसीकी दृष्टिमें महात्मा, किसीकी दृष्टिमें अभिमानी, किसीकी दृष्टिमें लोभी, किसीकी दृष्टिमें पाखण्डी और किसीकी दृष्टिमें भोगी दीखता है। अपने-अपने भावोंके अनुसार ही लोगोंको नाना प्रकारसे प्रतीति होती है।

साक्षात् भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भक्तोंको ईश्वर, स्त्रियों-को कामदेव, दुष्टोंको काल, राजाओंको वीर, माता-पिताओंको बालक और योगियोंको ब्रह्म इत्यादि रूपसे दीखते थे—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं भूप महारणधीरा। मनहुँ बीररस धरे शरीरा॥
रहे असुर छल जो नृप बेखा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥
हरि भक्तन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥

(तु० रामायण)

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४३ । १७)

'रंग-भूमिमें पहुँचनेपर बलदेवजीसहित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-जी, मल्लोंको वज्र-जैसे, साधारण पुरुषोंको पुरुषश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपगणको स्वजन, दुष्ट राजाओंको शासन करनेवाले, अपने मातापिताको बालक, कंसको साक्षात् मृत्यु, अविद्वानोंको संसारी, योगियोंको परम तत्त्व परब्रह्म और यादवोंको परम देवतारूपसे विदित हुए।'

एक युवती सुन्दरी स्त्री सिंहकी भावनामें उसका खाद्य पदार्थ है, वह उसे खानेकी दृष्टिसे देखता है, वहाँ रूप, रंग और रमणीयताका कोई मूल्य नहीं है। किन्तु कामी पुरुषको वही रमणीय और सुन्दर दीखती है, वह उसके रूपलावण्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। वही स्त्री पुत्रको माताके रूपमें दूध पिलानेवाली, शरीरका पोषण करनेवाली और जीवनका आधार दीखती है। एवं वैराग्यवान् विरक्त पुरुषको वही त्याज्यरूप और ज्ञानीको परमात्माके रूपमें प्रतीत होती है। वस्तु एक होनेपर भी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वह भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होती है।

इसी प्रकार यह सारा संसार वस्तुतः एक परमात्माका स्वरूप होनेपर भी भ्रमसे अपनी-अपनी भावनानुसार भिन्न-भिन्न रूपमें

प्रतीत होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको यह वैसा ही दीखता है। किसीको सत् दीखता है तो किसीको असत् तथा किसी-किसीको परमात्मामय दीखता है। परिणाम भी प्रायः भावनाके अनुसार ही देखनेमें आता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान कालके दुःखोंका चिन्तन करनेसे मनुष्य तत्काल ही दुखी-सा हो जाता है, सुखोंका स्मरण करनेसे सुखी-सा हो जाता है।

नित्य चेतन, आनन्दस्वरूप यह जीवात्मा भी परमात्माका अंश* होनेके कारण परमात्माका ही स्वरूप है पर यह भूलसे अपनेको देहस्वरूप मानने लग गया है।

आपने भावते भूलि परयो भ्रम, देह स्वरूप भयो अभिमानी।
आपने भावते चंचलता अति, आपने भावते बुद्धि बिरानी॥
आपने भावते आप बिसारत, आपने भावते आतमज्ञानी।
सुन्दर जैसो ही भाव है आपनो, तैसो हि होइ गयो यह प्रानी॥

(सुन्दरविलास)

इस भूलको मिटानेके लिये सबसे उत्तम उपाय भगवान्‌की अनन्य भक्ति है। सर्वशक्तिमान् वासुदेवको ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और प्रेमभावसे निरन्तर

---

* ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी॥
(तु० रामायण)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५।७)

उसका सर्वत्र चिन्तन करना अनन्य भक्ति है। भगवान्की भक्तिके प्रभावसे सारे दुःख, अवगुण और पापोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, उसकी सारी भूलें एवं संशय मिट जाते हैं, उसको सारा संसार भगवत्-रूप दीखने लग जाता है। उसकी वाणी और सङ्कल्प सत्य हो जाते हैं, भगवान्की भक्तिके प्रतापसे उसके लिये विष भी अमृत बन जाता है।

गरल सुधा सम अरि हित होई।

(तुलसी० उ०)

भक्त प्रह्लादने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि विष भी उनके लिये अमृत हो गया, अग्नि शीतल हो गयी, अस्त्र-शस्त्र निरर्थक हो गये। सर्पोंके विषका कुछ भी असर नहीं हुआ। कहाँतक कहें, जड स्तम्भमें भी चेतनमय, सर्वशक्तिमान् भगवान् नरसिंहके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। प्रह्लाद भगवान्के भक्त थे, उनका सङ्कल्प सत्य और अन्तःकरण पवित्र था। इसीसे ऐसा हुआ। यह सब उत्तम भावनाका फल है। अतएव मनुष्यको अपनी उत्तम-से-उत्तम भावना बनानेके लिये कोशिश करते रहना चाहिये। विज्ञानानन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी समझकर प्रभावसहित उसके नाम, रूप और गुणोंका निष्काम भावसे चिन्तन करना, या सारे संसारको प्रभुके अन्तर्गत देखना, एवं सम्पूर्ण संसारको प्रभुमय देखना, या जहाँ दृष्टि एवं मन जाय, वहीं प्रभुका चिन्तन करना सबसे उत्तम भावना है। इसलिये हर समय हमलोगोंको प्रभुका ही चिन्तन करते रहना चाहिये। इस

प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय प्रभुके रूपमें प्रतीत होने लगेगा। क्योंकि वस्तुतः यह प्रभुका ही स्वरूप है। भगवान्ने भी कहा है—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९), इसीलिये इस प्रकारका अभ्यास करनेसे प्रभुकी प्राप्ति यहीं हो सकती है। यदि अभ्यासकी कमीके कारण प्रभुकी प्राप्ति यहाँ नहीं हुई तो, आगे हो सकती है क्योंकि यह मनुष्य जैसा सङ्कल्प करता हुआ जाता है आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है। कहा भी है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥

(छान्दो० ३। १४। १)

'यह सारा जगत् ब्रह्मका ही स्वरूप है क्योंकि ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें ही स्थित है तथा ब्रह्ममें ही लीन होता है। इस प्रकार शान्तभावसे उपासना करनी चाहिये यानी शान्तचित्तसे संसारमें ब्रह्मकी भावना करनी चाहिये। यह पुरुष निश्चय सङ्कल्पमय है। इसलिये इस लोकमें मनुष्य जैसे सङ्कल्पवाला होता है यानी जैसा सङ्कल्प करता है, मरकर वह आगे जाकर वैसे ही बन जाता है (फिर वहाँ जाकर पुनः) वह वैसा ही सङ्कल्प करता है।'

क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य सदा जिसका चिन्तन करता है अन्तकालमें भी प्रायः उसीका चिन्तन होता है, और

अन्तकालमें जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह उसीको प्राप्त होता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

इसलिये भी मनुष्यको नित्य-निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये। नित्य-निरन्तर परमात्माका चिन्तन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुलभतासे होती है। परमात्मा सर्वव्यापी होनेके कारण उनका नित्य-निरन्तर चिन्तन होना कठिन भी नहीं है। सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि करना ही सबसे उत्तम और सद्भावना है, इसलिये जिसकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि हो जाती है, उसीकी विशेष प्रशंसा की गयी है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

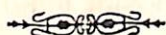
(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

अतएव हमलोगोंको सर्वत्र भगवत्-बुद्धि करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, इससे बढ़कर और कुछ भी कर्तव्य नहीं है।



सर्वोच्च ध्येय



एक सज्जनके दो प्रश्न हैं—

प्र० १—अबतककी उम्रमें आपको श्रवण, भाषण, सहवास, शिक्षण, अध्ययन, मनन, निदिध्यासन, कृति, भ्रमण, निरीक्षण, सत्संग और सद्गुरु तथा अनुभव इत्यादिके द्वारा ऐसा कौन-सा सिद्धान्त, उच्च ध्येय जँचा है जिसमें शील, सदाचार, मानवकर्तव्य, आनन्द, मोक्ष, योगादिका तथा आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक उन्नति अथवा समाजसुधार आदि सभी सिद्ध होते हों और जिस (उच्च ध्येय) को सुलभ साधनोंद्वारा पृथिवीभरके सभी मनुष्य सदा प्राप्त कर सकें ?

उ० १—जिस उच्च ध्येयके विषयमें आपका प्रश्न है उसका यथार्थ वर्णन तो वही पुरुष कर सकता है जिसने उस सर्वोत्तम उच्च ध्येयको प्राप्त कर लिया हो। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, मुझे इतना ज्ञान नहीं है जिससे आपको मेरे उत्तरसे सन्तोष हो सके। क्योंकि विशेष करके न तो मैंने सत् शास्त्रोंका श्रवण-मनन, पठन-पाठन ही किया है, न सद्गुरु एवं महात्मा पुरुषोंका सेवन, सत्संग, सहवास और अनुकरण ही कर सका हूँ और न उनकी आज्ञाओंका इतना पालन ही कर पाया हूँ। मनन और निदिध्यासन भी विशेष नहीं हैं। किन्तु मुझे जो रुचिकर है, जिसे मैं अच्छा समझता हूँ वही अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार आपकी प्रसन्नताके लिये आपकी सेवामें संक्षेपमें निवेदन कर रहा हूँ—

केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सब प्रकारसे अनन्य शरण होना ही सर्वोत्तम सिद्धान्त एवं उच्च ध्येय है और यही परम धर्म तथा परम कर्तव्य है। अतएव इसको परम कर्तव्य समझकर इसका पालन करनेसे मनुष्य अनायास सदाचार और सद्‌गुणसम्पन्न होकर पूर्ण शान्ति एवं मोक्षतकके आनन्दको सुलभतासे प्राप्त कर सकता है। इसीसे कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक, उन्नति और सुधारका होना सम्भव है एवं पृथ्वीभरके सारे मनुष्य सुलभतासे इसे प्राप्त कर सकते हैं तथा मनुष्यमात्रका ही इसमें अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९।३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरी शरण होनेसे परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अन्तिम उपदेश भी यही दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य

शरणको प्राप्त हो । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर ।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी यही घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय माँगता है उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है ।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है उसको वही प्राप्त होता है । यह अक्षर ही सर्वोत्कृष्ट आश्रय है, इसका आश्रय लेना ही परम उत्तम है । इस आश्रयका रहस्य जानकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।'

इसलिये लज्जा, भय, मान, बड़ाई, आसक्तिको त्यागकर अहंता, ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उस व्यक्त-

अव्यक्तस्वरूप सर्वव्यापी विज्ञानानन्द परमेश्वरके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादिद्वारा सब प्रकारसे शरण होनेके लिये तत्पर होना चाहिये।

अनन्यशरणका स्वरूप

(क) उस परमेश्वरके नामका जप और प्रभाव एवं रहस्य-सहित स्वरूपका ध्यान (चिन्तन) निष्काम प्रेमभावसे श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा करते रहना। हरि, ॐ, तत्सत्, नारायण, वासुदेव, शिव इत्यादि उसके अनेक नाम हैं। इन नामोंमेंसे, जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा और रुचि हो, उसके लिये उसी नामका जप विशेष लाभप्रद है। उस परमेश्वरके दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। इनमें निर्गुण (गुणातीत) का चिन्तन तो बन नहीं सकता। जो चिन्तन किया जाता है वह सगुणका ही किया जाता है। सगुणके भी दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त। या यों समझिये, एक निराकार और दूसरा साकार। महासर्गके आदिमें जिससे सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है तथा महाप्रलयके अन्तमें सम्पूर्ण संसार जिसमें विलीन होता है एवं जो सर्वत्र समभावसे व्याप्त है और सम्पूर्ण संसारका नाश होनेपर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे अव्यक्त, सर्वव्यापी, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्माको निराकार ब्रह्म कहते हैं। वही विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब संसारके उद्धारके लिये मनुष्य या देवतादिके रूपमें प्रकट होकर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचारादि धर्मका प्रचार करता है, तब उस प्रेम, दया और आनन्दमयी मूर्तिको साकार ब्रह्म कहते हैं। इनमें जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा-प्रेम हो उसके लिये उसी स्वरूपका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है।

(ख) उस परमेश्वरकी आज्ञा एवं इच्छाके अनुसार यथासाध्य चलनेके लिये सदा-सर्वदा कोशिश करते रहना, अर्थात् ईश्वरको जो (अनुकूल) प्रिय हो, तत्परतासे वही करना। सत् शास्त्रों और महात्मा पुरुषोंकी आज्ञाको ही ईश्वरकी आज्ञा समझना, उनके द्वारा समझे हुए विषयपर मनन करनेसे अपनी आत्मामें निरपेक्ष-भावसे जो निर्णय हो उसको ईश्वरकी इच्छा समझना एवं उसीको परम कर्तव्य समझकर उसके अनुसार सदा-सर्वदा चलनेकी चेष्टा करना। शास्त्रमें बतलाये हुए लक्षण और आचरण जिसमें पाये जाते हों ऐसे महापुरुषोंमेंसे जिसकी बुद्धिमें जो सबसे श्रेष्ठ पुरुष पहले हो गये हों या वर्तमान हैं, वे ही उसके लिये महात्मा पुरुष समझे जाते हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि आर्ष ग्रन्थ ही सत् शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त महापुरुषोंद्वारा रचे हुए जिन शास्त्रोंमें जिसकी श्रद्धा-भक्ति हो उसके लिये वे भी सत् शास्त्र समझे जाते हैं। वर्तमान कालके लिये श्रीमद्भगवद्गीता श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार एवं पक्षपातरहित, सार्वभौम, धार्मिक सद्-ग्रन्थ है। इसीसे कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्म० ४३। १)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भलीप्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णुभगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली

हुई है। फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?' इसलिये विशेष शास्त्रोंका अभ्यास न हो सके तो श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन तो अवश्यमेव करना चाहिये।

(ग) सुख-दुःखकी एवं सुख-दुःखदायक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें तथा हानि और लाभमें परम दयालु, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमेश्वरका ही किया हुआ विधान समझकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहना, अर्थात् परेच्छा या अनिच्छासे जो कुछ भी प्रारब्धानुसार प्राप्त हो उसमें उस प्रेमास्पद, दयासिन्धु परमेश्वरकी दयाका पद-पदपर अनुभव करते हुए सदा-सर्वदा आनन्दमें मुग्ध रहना।

(घ) संसारकी किसी भी वस्तुको न तो अपनी सम्पत्ति समझना चाहिये एवं न अपने भोगकी सामग्री ही। क्योंकि वास्तवमें सब कुछ नारायणसे उत्पन्न होनेके कारण नारायणका ही है। इसलिये उनमेंसे ममताको हटाकर सब वस्तुएँ नारायणके ही अर्पण कर देनी चाहिये। अर्थात् नारायणकी आज्ञानुसार नारायणके काममें ही उन्हें लगा देना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि–बुद्धिसे परमात्माके रहस्य और प्रभावसहित तत्त्वको समझना, श्रद्धा-प्रेमपूर्ण चित्तसे उस परमात्माके स्वरूपका चिन्तन, श्वासद्वारा भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्तिका एवं उनके भक्तोंका दर्शन तथा सत् शास्त्रोंका अवलोकन, वाणीसे उनके गुणोंका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी सेवा, पूजा, नमस्कारादि तथा उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिलाकर

उनकी आज्ञानुसार केवल उन परमेश्वरके लिये ही फल और आलस्य-को छोड़कर सम्पूर्ण कर्मोंको करना। यही उनकी सब प्रकारसे शरण होना है।

उपर्युक्त प्रकारसे मनुष्य जैसे-जैसे भगवान्‌की शरण जाता है वैसे-वैसे ही उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, क्षमा, दया, सन्तोष, समता आदि सद्‌गुणोंकी तथा शम, दम, तप, दान, त्याग, सेवा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि उत्तम आचरणोंको एवं अतिशय शान्ति और परमानन्दकी क्रमशः वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकारसे उन्नत होता हुआ वह फिर उस परम दयालु परमात्माकी दयासे सारी उन्नतियोंकी शेष सीमाके परमोच्च शिखरपर पहुँच जाता है, अर्थात् परम धाम, परम पद, परम गतिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

प्र० २—प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन चौबीस घण्टेमें कितना-कितना समय आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक, समाजसुधार, आजीविका आदि कार्योंमें लगाना चाहिये, जिससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों सधें। कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक सुधार, आत्मसुधार आदि प्रत्येक कार्यमें मनुष्यको कितना समय और अर्थ व्यय करना चाहिये जिससे इनका पूरा विकास हो और समय, अर्थ तथा श्रम सार्थक सिद्ध हो?

उ० २—समय बहुत ही अमूल्य है। लाखों रुपये खर्च करने-पर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता। ऐसे मनुष्य-जीवन-का एक क्षण भी प्रमाद, आलस्य, पाप, भोग और अकर्मण्यतामें

कदापि नहीं खोना चाहिये । जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचारे व्यर्थ प्रमादमें बितावेगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा । गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि, कर्महि, ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

कविराय गिरधरजीने भी कहा है—

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय ।
काम बिगारै आपनो, जगमें होत हँसाय ॥
जगमें होत हँसाय, चित्तमें चैन न पावै ।
खान, पान, सनमान, राग-रँग मन नहिं भावै ॥
कह गिरधर कविराय करमगति टरत न टारे ।
खटकत है जियमाहिं कियौ जो बिना बिचारे ॥

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऊपर बतलाये हुए अनन्य शरणरूप परम धर्ममय कर्तव्यके पालनमें ही अपने सम्पूर्ण अमूल्य समयका व्यय करे । प्रत्येक कर्म करनेके पूर्व ही सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरेलिये सर्वथा लाभप्रद है या नहीं । यदि उसमें कहीं जरा भी त्रुटि माळूम पड़े तो उसका तुरन्त सुधार कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार सावधानीसे समयका व्यय करनेसे उसका स्वार्थ भी परमार्थके रूपमें परिणत होकर उसके सम्पूर्ण कार्योंकी सफलता हो जाती है अर्थात् वह कृतकार्य हो जाता है ।

वर्णाश्रम और स्वभावकी विभिन्नताके कारण समयके विभागमें भेद होना सम्भव है। अतएव सब मनुष्योंके लिये समयका विभाग एक-सा नियत नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर अपनी-अपनी बुद्धिसे ही अपने-अपने सुभीतेके अनुसार सबको यथायोग्य समयका विभाग कर लेना चाहिये। आपकी प्रसन्नताके लिये समयविभागके विषयमें कुछ निवेदन भी किया जाता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६।१७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालोंका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालोंका और यथायोग्य शयन करनेवाले तथा जागनेवालोंका ही सिद्ध होता है।'

गीताके उपर्युक्त श्लोकका विवेचन करनेसे यह बात प्रकट होती है। साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको दिन-रातके २४ घण्टोंके चार विभाग कर लेने चाहिये। उनमेंसे ६ घण्टे तो लोक-सेवा एवं स्वास्थ्य-रक्षाके लिये यथायोग्य आहार, विहार आदिमें, ६ घण्टे न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जनरूपी कर्ममें, ६ घण्टे शयन करनेमें और ६ घण्टे केवल आत्मोद्धार करनेके लिये योगसाधनमें लगाने चाहिये। अर्थात् ६ घण्टे तो शौच, स्नान, भोजनादि स्वास्थ्य-रक्षाके लिये एवं कौटुम्बिक, सामाजिक तथा अपनी शक्ति हो तो राष्ट्रीय और

जागतिक सेवा एवं सुधारके लिये लगाने चाहिये । कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और जागतिक आदिके विशेष कार्य उपस्थित होनेपर दूसरे विभागमेंसे भी समय निकाला जा सकता है । ६ घण्टे फल और आसक्तिको छोड़कर कर्तव्यबुद्धिसे वर्णाश्रमके अनुसार यथासाध्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ शरीरनिर्वाहके लिये न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेमें बिताने चाहिये, ६ घण्टे समयपर स्वास्थ्य-रक्षाके लिये शयनमें व्यतीत करने चाहिये और शेष ६ घण्टे केवल आत्मोद्धारके लिये ही पवित्र और एकान्त स्थानमें अकेले बैठकर संसारके भोगोंसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैराग्ययुक्त अनन्य मनसे परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान एवं सत्सङ्ग और सत् शास्त्रोंका विचार करना चाहिये । सामान्यतः उपर्युक्त समयविभागका कार्यक्रम नीचे लिखे अनुसार नियत किया जा सकता है ।

कार्यक्रम

प्रातःकाल सूर्योदयसे करीब डेढ़ या दो घण्टे पहले बिछौनेसे उठ जाना चाहिये । प्रातः चार बजे उठकर यथासाध्य ईश्वरस्मरण करके शौच-स्नानादिसे पाँच बजेतक निवृत्त हो जाना चाहिये । पाँचसे आठ बजेतकका समय एकान्त और पवित्र स्थानमें बैठकर आत्मोद्धारके लिये ही यथारुचि शास्त्रविधिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे केवल भजन, ध्यान आदि ईश्वरोपासनामें ही बिताना चाहिये । ८ से १० बजेतकका समय कौटुम्बिक, सामाजिक आदि सेवा और सुधारके कार्य तथा भोजनादि स्वास्थ्योपयोगी कार्योंमें लगाना चाहिये । १० से ४ बजेतकका समय जीविकाके

लिये वर्णाश्रमके अनुसार न्यायानुकूल द्रव्योपार्जनमें लगाना चाहिये । ४ से ६ बजेतकका समय कौटुम्बिक, सामाजिक और अपनी रुचि और शक्ति हो तो राष्ट्रीय और जागतिक सेवा, उन्नतिके कार्यमें व्यतीत करना चाहिये । ६ से ९ बजेतक आत्मोद्धारके लिये यथारुचि शास्त्रविधिके अनुसार भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन एवं शास्त्रके विचार और पठन-पाठन आदि ईश्वरोपासनामें ही बिताना चाहिये । ९ से १० बजेतक भोजन एवं स्वास्थ्य-रक्षाके निमित्त समय बिताना चाहिये और रात्रिके १० से प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये ।

उपर्युक्त समयविभागमें अपनी रुचि और सुविधाके अनुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है; क्योंकि जाति, देश, काल, स्वभाव आदिकी विभिन्नताके कारण सबके लिये समयका विभाग एक-सा अनुकूल नहीं हो सकता ।

अपने शरीर और कुटुम्बका निर्वाह जितने कम धनसे हो सके उतने ही कममें करना चाहिये । इसके लिये यथासाध्य बराबर चेष्टा रखनी चाहिये । इसके बाद बचे हुए द्रव्यका अंश अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वार्थ त्यागकर शास्त्रानुकूल यथासाध्य देव, पितृ, मनुष्य और प्राणिमात्रके हितमें व्यय करना चाहिये ।

यह बात विशेष खयाल रखनेकी है कि परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान हर समय ही करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये अर्थात् परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करते हुए ही परमेश्वर-प्रीत्यर्थ शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक,

राष्ट्रीय, जागतिक एवं जीविकादिके भी सम्पूर्ण कर्म फलासक्तिको त्यागकर ही करने चाहिये।

भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। (इस प्रकार) मेरेमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

(गीता १८।५७)

'सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

इस प्रकार करनेसे मनुष्योंके कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक आदि सम्पूर्ण कर्मोंका सुधार होकर उनका समय, श्रम और पैसे सार्थक हो जाते हैं एवं परमात्माकी दयासे अनायास ही परम शान्ति एवं परमानन्दकी अर्थात् परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।



तत्त्व-विचार

एक सज्जन निम्नलिखित चार प्रश्न करते हैं—

प्र० १—केवल एक ईश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है और ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल तथा सुगम मार्ग नहीं है तो फिर हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग क्यों बतलाये जाते हैं ?

उ० १—ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल मार्ग नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें मुक्तिके नाना मार्ग दिखलाकर अन्तमें सबका सार यही बतलाया है कि 'तू सम्पूर्ण धर्मों (के आश्रय) को छोड़कर केवल एक मेरी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर।'

महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें ईश्वर-शरणागतिको ही सबसे सहज उपाय बतलाया है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१। २३)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१। २९)

'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (२ । ४५)

इत्यादि सूत्रोंद्वारा केवल ईश्वरप्रणिधानसे ही सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमपदकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

जिस समय विभीषण भगवान्‌के शरण आये हैं, उस समय स्वयं भगवान् सुग्रीवको कहते हैं ।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

'जो पुरुष एक बार भी मेरी शरण होकर प्रार्थना करता है कि मैं तेरा हूँ, उसको मैं सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ यह मेरा व्रत है'—

'मम प्रण शरणागत भयहारी'

महाभारतके अनुशासनपर्वमें युधिष्ठिरके प्रति पितामह भीष्मजीने कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(१४९ । १३०)

भगवान् वासुदेवके आश्रित और वासुदेवके परायण हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे पवित्र होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

इसी प्रकार कठोपनिषद्‌में नचिकेताके प्रति भगवान् यमने भी कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(१ । २ । १७)

इसका आश्रय यानी शरण श्रेष्ठ है, यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।

इस तरह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और शास्त्रोंमें जगह-जगह 'ईश्वर-शरण' की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है । अतएव केवल एक परमेश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है इसमें कोई संशय नहीं । और यही सबकी अपेक्षा सुगम और सरल मार्ग भी है । परन्तु जैसे कोई उदरके अनेक रोगोंसे पीड़ित मूर्ख रोगी हरीतकीके गुण और प्रभावको न जाननेके कारण उसमें विश्वास नहीं करता, केवल हरीतकीमात्रके सेवनसे उदरके सब रोगोंकी निवृत्तिको असम्भव समझता है, अतः उसके लिये चतुर वैद्य हरीतकीको छोड़कर या अन्य प्रकारकी हरीतकी-मिश्रित अन्यान्य नाना प्रकारकी कठिन ओषधियोंके सेवनका प्रबन्ध करता है, वैसे ही ईश्वरके दया आदि गुण और प्रभावके रहस्यको न जाननेके कारण, जिनकी ईश्वरमें श्रद्धा और प्रेम कम है या बिल्कुल ही प्रेम नहीं है अथवा जो केवल ईश्वरशरणमात्रसे मुक्ति नहीं मानते हैं, उनके लिये हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग बतलाये गये हैं ।

प्र० २—स्त्री, पुत्र, धन, मकान एवं अन्य सब पदार्थ सांसारिक सुख देनेवाले हैं और पूर्वकृत सुकृतके फलरूपसे मिलते

हैं, उनके क्षय और नाशमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे किया जाय ?

उ० २—स्त्री, पुत्र, धन एवं मकान आदि सांसारिक वस्तु भोगकालमें सुखरूप दीखते हैं किन्तु यदि विवेक-बुद्धिद्वारा देखा जाय तो सांसारिक सम्पूर्ण सुखदायक पदार्थ भी दुःखरूप ही हैं परन्तु मोहके कारण अज्ञानी मनुष्य दुःखको ही सुख मानकर फँस जाते हैं।

जैसे मोहके कारण अज्ञानवश पतंग साक्षात् मृत्युरूप दीपशिखा, लालटैन, बिजलीकी रोशनी इत्यादिको सुख मानकर उसके संगसे जल मरते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मोह-वश साक्षात् मृत्युरूप स्त्री-धनादि सांसारिक विषय-भोगोंको सुख मानकर उनके संगसे बारम्बार मृत्युके मुखमें पड़ते हैं। श्रुति कहती है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० १।२।६)

जो मूढ धनके मोहसे मोहित होकर प्रमत्त हो रहा है, उसको परलोक नहीं भासता। यह लोक है, परलोक नहीं है इस प्रकार माननेवाला बारम्बार मेरे वशमें होता है यानी मृत्युको प्राप्त होता है।

कोई दयालु पुरुष पतंगोंको मोहवश मृत्युकी ओर जाते देख

उनके दुःखसे द्रवितचित्त हो उनके हितके लिये दीपक, बिजली या लालटैन इत्यादिकी रोशनीको कम कर देता है या बुझा देता है, किन्तु इस रहस्यको न जाननेके कारण पतंग उलटे दुखी होते हैं और समझते हैं कि हमारी मनोकामना अपूर्ण रह गयी, तो भी रोशनीको बुझानेवाले पुरुषकी तो उनपर बड़ी भारी दया हो समझी जाती है। ऐसे ही कञ्चन, कामिनी आदि विषय-भोगोंके क्षय और नाशमें भी परम दयालु परमात्माकी दयाका ही दर्शन करना चाहिये।

प्र० ३–सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष आदि सब वस्तुएँ दुःखदायक हैं और पूर्वकृत पापकर्मके फलरूपमें प्राप्त होती हैं, इन मानसिक और शारीरिक दुःखोंकी प्राप्ति और वृद्धिमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे करें ?

उ० ३–सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष आदिद्वारा शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण व्याधियोंकी प्राप्तिमें यानी शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण दुःखोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें भी विवेक-बुद्धि-द्वारा विचार करनेपर ईश्वरकी दया पद-पदपर दिखलायी देती है।

(क) जैसे न्यायकारी दयालु राजा अपराध करनेवाली प्रजाको दण्ड भुगताकर पवित्र कर देता है वैसे ही परमदयालु परमात्मा पापी मनुष्यको शरीर और मनके द्वारा सांसारिक दुःख भुगताकर पवित्र कर देता है।

(ख) जैसे दयालु वैद्य कुपथ्य करनेवाले रोगीको कुपथ्यके परिणाममें प्रत्यक्ष दोष दिखाकर कुपथ्यसे बचा देता है, वैसे ही परमदयालु परमात्मा पापोंके परिणामरूप दुःखके समय भक्तके

हृदयमें इस प्रकार प्रेरणा कर देता है कि यह दुःख तेरे पूर्वमें किये हुए पापोंका फल है। इससे उसकी पाप करनेकी वृत्ति क्षय होती जाती है।

(ग) विवेक-बुद्धिद्वारा दुःखोंको सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है, उसमें वीरता, धीरता, गम्भीरता और तितिक्षा आदि गुण बढ़ते हैं। सुन्दरदासजीने कहा है—

सुन्दर सोई सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछु राखें नहीं चोट हृदयपर खाय॥

—इस प्रकार सहन करते-करते वे वीर पुरुष भगवत्‌की दयासे भगवत्-प्राप्तिके पात्र बन जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

(घ) शारीरिक क्लेशकी प्राप्ति होनेपर उसको परम तप मानकर सहन करनेसे परम तपके फलकी प्राप्ति है, बृहदारण्यक उपनिषद्‌के ११ वें ब्राह्मणमें इसका वर्णन है।

(ङ) भगवान् श्रीकृष्ण जब कुन्तीदेवीको वर देने लगे तब कुन्तीदेवीने कहा कि विपत्तिकालमें आप विशेष याद आते हैं

अतएव मैं आपसे सदा विपत्ति ही माँगती हूँ। किसी कविने भी कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो, जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी, जो पल-पल राम रटाय॥

(च) शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्म कहते हैं कि 'मैंने जो कुछ भी पाप किये हैं वे सब रोगरूपसे प्राप्त हो जायँ और मुझे सदाके लिये उऋण बना दें, मेरा पुनर्जन्म न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि वह पद-पदपर ईश्वरकी दयाका दर्शन करते हुए दुःखोंको ईश्वरका प्रदान किया पुरस्कार समझकर आनन्दके साथ उन्हें स्वीकार करे।

प्र० ४—श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके १९ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इस आत्माको मरनेवाला समझता है वे दोनों ही ठीक नहीं समझते क्योंकि यह आत्मा न किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जा सकता है।' और २० वें श्लोकमें कहते हैं कि 'शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता।' इस कथनका असली आशय क्या है? क्योंकि इसके तात्पर्यको न समझनेवाले मूर्खलोग इसका विपरीत अर्थ मान लेते हैं और कहते हैं कि श्रीभगवान् अर्जुनको इस प्रकारका उपदेश देकर जब मनुष्योंको ही मारनेके लिये उत्साहित करते हैं तो फिर पशु, पक्षियोंको मारनेमें हिंसा और पाप क्यों मानना चाहिये?

उ० ४—श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक १९ एवं २० में

भगवान्का तात्पर्य 'शोक, स्नेह और मोहके कारण क्षात्र-धर्मसे विचलित हुए अर्जुनके कल्याणके लिये विकार और क्रियारहित अविनाशी आत्माकी नित्यता और नाशवान् शरीरकी अनित्यता दिखलाकर तत्त्व-ज्ञानका उपदेश देना एवं दुष्टोंका संहार करनेके उद्देश्यसे अर्जुनको उत्साह दिलाकर धर्मयुक्त युद्धमें लगाना' प्रतीत होता है।

यहाँ पशु, पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगके विषयमें भगवान्का कुछ भी कहना नहीं है। इन श्लोकोंसे मोहवश पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगका आशय निकालना सर्वथा अनुचित एवं प्रसङ्गविरुद्ध है। निरपराधी पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगको हिंसा न समझकर मोहसे या स्वार्थ-सिद्धिके लिये किसी जीवको मारना केवल मूर्खता ही नहीं, पाप है।

(क) विकार और क्रियारहित नित्य, अचल, चेतन, अव्यक्त, अव्यय, अज, अविनाशी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकार क्षय या नाश नहीं हो सकता और यह शरीर अन्तवन्त यानी क्षणभङ्गुर, अनित्य होनेके कारण अवश्यमेव ही नाशवान् है। इस प्रकार आत्मा और शरीरका तत्त्व भगवान्ने अर्जुनको इसलिये बतलाया कि वह युद्धमें अपने या प्रियजनोंके शरीर-नाशसे आत्माका नाश एवं आत्मामें विकार न मान ले। क्योंकि आत्मा न तो हनन क्रियाका कर्म है और न कर्ता ही है।

(ख) नीति और धर्मसे सम्मत होनेके कारण क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्धमें मनुष्योंका मारना भी पाप नहीं है। बारह वर्षका

वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास भोगकर भी धरोहररूपसे रक्खा हुआ राज्य न मिलनेके कारण अर्जुनको दुर्योधनादिके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार होना पड़ा था। इसी हेतु अर्जुनके लिये यह युद्ध धर्ममय बतलाया गया। नहीं तो क्रोध, लोभ या मोहके वशमें होकर मन, वाणी या शरीरसे किसी भी जीवको किञ्चिन्मात्र भी दुःख पहुँचाना पाप है, फिर प्राण-वियोगकी तो बात ही क्या।

(ग) नीति और धर्मके विरुद्ध होनेके कारण दुर्योधनादिके लिये यह युद्ध पापमय था। क्योंकि वनवाससे आये हुए पाण्डवों-को धरोहररूपसे रक्खा हुआ उनका राज्य माँगनेसे समयपर न लौटाना महापाप था।

इतना ही नहीं, दुर्योधन आदि स्वार्थ और मोहके वशमें होकर पाण्डवोंके साथ बहुत अत्याचार किया करते थे। भीमको विष देना, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाकर नाश करनेकी व्यवस्था करना, युधिष्ठिरको छलसे जुएमें हरा देना, निरपराधिनी सती द्रौपदीका भरी सभामें वस्त्र हरण करना एवं उसके केश पकड़कर खींचना, वनमें पाण्डवोंको क्लेश देनेके लिये जाना, बिना ही अपराध विराटकी गौओंको हरण करना, न्याययुक्त सन्धि न कर पापमय युद्धके लिये हठ करना, भगवान् श्रीकृष्णके समझानेपर भी न मानना एवं उनको कैद करनेके लिये कोशिश करना, इत्यादि बहुत-से पापोंके कारण वे कुटुम्बसहित मारनेके योग्य समझे गये।

(घ) पाण्डव धर्मात्मा थे और दुर्योधनादि पापी थे। इसी-लिये दलदलमें फँसी हुई गौकी तरह राज्य और प्रजाको दुष्टोंके

हाथसे छुड़ाकर धर्मात्मा पाण्डवोंको सौंपने एवं उनका यश बढ़ानेके उद्देश्यसे भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर संसारके हितके लिये कर्ण, दुर्योधनादिकोंका नाश करना उचित समझा। शास्त्रमें ऐसे आततायियोंको बिना ही विचारे मारनेका विधान है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(वशिष्ठस्मृति अ० ३। १९, २०)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, बिना शस्त्रवालेपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, खेत-मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई भी दोष नहीं होता।' तो भी धर्म और दयाकी दृष्टिसे मारनेकी अपेक्षा समझा-कर काम निकालना उत्तम है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णजीने दुर्योधनादि दुष्टोंको सन्धि करनेके लिये नाना प्रकारसे स्वयं समझानेकी चेष्टा की, किन्तु दुर्योधनने किसी प्रकार भी सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। उसका मरण अवश्यम्भावी था इसी-लिये भगवान्‌ने अर्जुन, भीम आदिके द्वारा उन सबको मरवाया। भगवान्‌के अवतार ग्रहण करनेमें भी यही कारण था। गीतामें भगवान्‌ने कहा भी है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(४ । ८)

'साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये एवं धर्मके स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।' इसीलिये दुष्टोंका संहार करके प्रजाके हितके लिये धर्मात्मा युधिष्ठिरके हाथमें राज सौंपकर भगवान्ने धर्मकी स्थापना की एवं वेदव्यासादि ऋषियोंद्वारा और पितामह भीष्मद्वारा उपदेश दिलाकर तथा स्वयं उपदेश देकर प्रिय भक्त युधिष्ठिर और अर्जुन आदिका उद्धार किया ।

(ङ) क्षत्रियोंके लिये नीति और धर्मयुक्त युद्ध करना परम धर्म एवं स्वार्थ-बुद्धिसे भी लाभप्रद कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
(गीता २ । ३१)

'अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेको योग्य नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रियके लिये नहीं है ।'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
(गीता २ । ३७)

'तू या तो मरकर स्वर्गको प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथिवी-

को भोगेगा। इससे हे अर्जुन ! युद्धके लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो।'

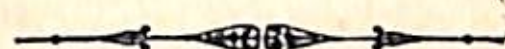
स्वार्थबुद्धिको एवं अहंकारको सर्वथा त्यागकर न्यायसे किसीका मारना तो वास्तवमें मारना ही नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

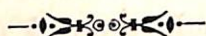
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा अनायास किसीके मर जानेपर उन्हें कोई पाप नहीं होता, इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे रहित निःस्वार्थी पुरुष पापका भागी नहीं होता। देहाभिमान और स्वार्थसे रहित केवल संसारके हितके लिये प्रारब्धवश जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती और बिना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है। इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।



सर्वोपयोगी प्रश्न



एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न किये हैं, यहाँ वे उत्तर-सहित प्रकाशित किये जाते हैं—

(१) प्र०—सच्चा वैराग्य किस प्रकार हो ?

उ०—संसारके सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण दुःखप्रद और अनित्य हैं, इस रहस्यको सच्चे वैराग्यवान् पुरुषोंके सङ्गसे समझनेपर सच्चा वैराग्य हो सकता है ।

(२) प्र०—ईश्वर-प्राप्ति पुरुषार्थ और भगवत्कृपाद्वारा होती है, वह पुरुषार्थ किस प्रकार किया जाय और भगवत्कृपा किस तरह समझी जाय ?

उ०—सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन भगवान्‌की सब प्रकारसे शरण होना ही असली पुरुषार्थ है। अतएव भगवान्‌की शरण होनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे तत्पर होना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, उनकी आज्ञाका पालन और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें उन परमात्माकी कृपाका पद-पदपर अनुभव करनेका नाम शरण है। और उनकी शरण होनेसे ही उनकी कृपाका रहस्य समझमें आ सकता है।

(३) प्र०—ईश्वरके दर्शन और प्राप्तिका सहज उपाय क्या है ?

उ०—अनन्य-भक्ति ही सहज उपाय है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा तो मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अनन्य-भक्तिका स्वरूप यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण

प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य-भक्तिवाला पुरुष) मुझको (ही) प्राप्त होता है।'

सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति तो ज्ञानयोगद्वारा भी हो सकती है परन्तु सगुण रूपके साक्षात् दर्शन केवल ईश्वरकी अनन्य-भक्तिसे ही होते हैं। अनन्य-भक्ति और अनन्य-शरण वस्तुतः एक ही है परन्तु व्याख्या करते समय शरणकी व्याख्यामें अनन्य-भक्तिका और अनन्य-भक्तिकी व्याख्यामें अनन्य-शरणका वर्णन हुआ करता है। जैसे उपर्युक्त श्लोकके 'मत्परमः' शब्दसे भगवत्-शरणका कथन किया गया है, वैसे ही गीता अध्याय ९ के ३४ वें श्लोकमें शरणके अन्तर्गत अनन्य-भक्तिका कथन आया है। गीता अ० ९ के ३२ वें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा—स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनिवाले (अन्त्यज) भी मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

इस उपदेशके बाद आगे चलकर भगवान्ने ३४ वें श्लोकमें शरणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझे प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ (तू) आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

यों तो इस सारे ही श्लोकमें 'शरण' के नामसे अनन्य-भक्तिका ही वर्णन है परन्तु 'मद्भक्तो भव' शब्दसे स्पष्टरूपमें भक्तिका कथन है।

(४) प्र०—मनुष्य ईश्वरकी जरूरत क्यों नहीं समझता ? और उस जरूरतके समझनेका उपाय क्या है ?

उ०—ईश्वरके स्वरूप, रहस्य, स्वभाव, गुण, प्रभाव और तत्त्वको न जाननेके कारण ही ईश्वरकी जरूरत मनुष्यके समझमें नहीं आती। इस अज्ञानके नाश होते ही जरूरत समझमें आ जाती है। ईश्वरके उपर्युक्त स्वरूपादिको यथार्थतः जाननेवाले पुरुषोंके संगसे ही इस अज्ञानका नाश हो सकता है।

(५) प्र०—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिनहिं भजन तजि भाव न आना॥

'भगवान्‌का ऐसा कौन-सा स्वभाव है जिसके जान लेनेपर भजन किये बिना न रहा जाय ?'

उ०—भगवान् पुरुषोत्तम बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करनेवाले परम सुहृद् हैं, शरणागतवत्सल हैं, एवं दीनबन्धु हैं, इत्यादि अनेकों गुणोंसे युक्त उनके स्वभावको तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य उनका भजन किये बिना नहीं रह सकता।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५ । १९)

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५ । २९)

'मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गीता ४ । ११)

'हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूँ । (इस रहस्यको जानकर ही) बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० यु० १८ । ३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ,' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

(६) प्र०—हम बड़ी-बड़ी बातें करना ही जानते हैं, साधन नहीं करते, ऐसा क्यों होता है ?

उ०—बुरी आदतके कारण ऐसा होता है। सत्पुरुषोंके और उत्तम साधकोंके संगसे एवं शास्त्रके विचारसे यह आदत नष्ट हो सकती है।

(७) प्र०—सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास होनेमें क्या कारण है ?

उ०—नास्तिक पुरुषोंका संग और पूर्वकृत पापोंके संस्कारोंका उदय; इन दो कारणोंसे सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अतएव विचारके द्वारा नास्तिक पुरुषोंके संगका त्याग और कुसंस्कारोंका परिहार करना चाहिये। कुसंस्कारोंके नाशके लिये ईश्वरसे प्रार्थना भी करनी चाहिये।

(८) प्र०—यदि हम पुरुषार्थ नहीं करें, केवल भगवत्कृपा समझते रहें तो क्या उद्धार नहीं हो सकता ?

उ०—भगवत्-कृपाके समझनेका यह दुष्परिणाम नहीं हो सकता कि जिसमें समझनेवाला भगवत्के अनुकूल पुरुषार्थसे रहित हो जाय ! क्योंकि भगवान्की शरण होना ही असली पुरुषार्थ है और शरण होनेसे ही

मनुष्य भगवान्‌की कृपाके रहस्यको समझ सकता है। फिर उस कृपाके रहस्यको समझनेवाला पुरुष पुरुषार्थहीन कैसे हो सकता है?

(९) प्र०—भगवान् हर जगह मौजूद हैं, हमारी प्रार्थना दयार्द्र हृदयसे सुनते हैं और व्याकुल होनेपर प्रकट होकर दर्शन भी दे सकते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास कैसे हो?

उ०—भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य, लीला और तत्त्वके अमृतमय वचन उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा पुनः-पुनः श्रवण करके मनन करनेसे एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे दृढ़ विश्वास हो सकता है।

(१०) प्र०—कोई अपनेको नीचा समझता है तो वह नीचा हो जाता है, किन्तु गोसाईं तुलसीदासजी तो अपनेको दीन समझकर ही परमपदको पा गये। यह कैसे हुआ?

उ०— नीचा कर्म करनेसे ही मनुष्य नीचा होता है, अपनेको दीन समझनेसे नहीं। परमेश्वरके सम्मुख दीन-भावसे प्रार्थना करनेवाला तो नीच भी परमपदको प्राप्त हो जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी परमपदको प्राप्त हुए, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो सच्चे हृदयसे अपनेको सबसे लघु, दीन समझता है, उसीका प्रभु उद्धार करते हैं। क्योंकि प्रभुका नाम दीनबन्धु बतलाया गया है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ माननेवाला तो नीचे गिरता है। क्योंकि उसमें अहङ्कार-बुद्धि होती है और अहङ्कार

अज्ञानजनित होनेसे पतनका कारण है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मानना ही मूढ़ता है। दीन मानना तो गुण है। अपनेको नीचा समझनेसे कोई नीचा नहीं होता, बल्कि वह तो सबसे ऊँचा समझा जाता है।

(११) प्र०—ईश्वरके प्रति सच्ची परायणता कैसे हो ?

उ०—ईश्वरपरायण भक्तोंके संग और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे हो सकती है ?

(१२) प्र०—भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र कैसे बनाया जा सकता है ?

उ०—जो भगवान्‌के यन्त्र बन चुके हैं अर्थात् शरण हो चुके हैं, उन पुरुषोंके संग और कथनानुसार साधनसे बनाया जा सकता है।

(१३) प्र०—भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन कैसे हो सकते हैं ?

उ०—पूर्वसञ्चित उत्तम कर्मोंके समुदायसे, भगवान्‌के भक्तोंमें सच्ची श्रद्धा होनेसे एवं भगवान् और भगवद्भक्तोंकी कृपासे सच्चे भक्तोंके दर्शन होते हैं।



परमार्थ-प्रश्नोत्तरी



प्र०—श्रीकृष्ण तथा अन्य अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है या नहीं और मुक्तिके लिये ज्ञान तथा निर्गुण-निराकार-की उपासनाके अतिरिक्त अन्य क्या साधन हैं ?

उ०—हाँ, श्रीकृष्णादि अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है। ज्ञानके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके दो साधन और हैं। सगुण परमात्माकी उपासना और निष्काम कर्म। इन्हींको लक्ष्य करके भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(३ । ३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे ।'

यहाँ कर्मयोगमें निष्काम कर्म और भक्ति (सगुणोपासना) दोनों ही अन्तर्गत हैं। सगुणोपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् अपनी कृपासे भक्तोंको तत्त्वज्ञान दे देते हैं जिसके द्वारा मनुष्य भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ।'

यद्यपि वेद-शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, तथापि भगवान्‌की कृपासे भक्तको वह ज्ञान सहजहीमें प्राप्त हो जाता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है ।

इसलिये भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है । भक्त तो ऐसा मानते हैं कि मुक्ति भगवान्‌के अनन्य प्रेमियोंके चरणोंमें लोटती है यानी उनके चरणोंकी सेवासे मिल सकती है । किन्तु वे उसकी ओर भूलकर भी नहीं ताकते,

उसकी इच्छा करना तो दूर रहा। भोग और मुक्तिकी स्पृहाको भक्तोंने पिशाची बताया है—

'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।'

फिर वे उसकी इच्छा क्यों करने लगे?

स्वामी विवेकानन्दने यह कहा है कि भक्ति करनेसे भगवान् ज्ञान देते हैं तब मुक्ति होती है, यह ठीक ही है। परन्तु भक्ति करनेवालोंको भगवान् ज्ञान ही देते हैं, यह बात नहीं है। प्रेम चाहनेवालेको वे प्रेमदान देते हैं और जो उनसे कुछ भी नहीं चाहता उसके तो वे ऋणी बन जाते हैं। भगवान्‌के प्रेमी भक्त मुक्तिकी अपेक्षा भगवान्‌के समीप रहना अधिक पसन्द करते हैं।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है–(१) धाम-मुक्ति अर्थात् साकार भगवान्‌के धामकी प्राप्ति और (२) कैवल्य-मुक्ति अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें लय हो जाना अथवा भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाना। इनमेंसे दूसरे प्रकारकी मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है। भक्ति करनेवालोंको भी यह मुक्ति 'ददामि बुद्धियोगं तम्' इस वाक्यके अनुसार भगवत्प्रसादसे ज्ञानप्राप्ति होकर होती है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्यादि वचन इसी मुक्तिको लक्ष्यमें रखकर कहे गये हैं। पहली अर्थात् धाम-मुक्ति जिसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इस प्रकार चार भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं—यह भेदभावकी मुक्ति प्रेमा भक्तिसे ही मिलती है। ज्ञान अर्थात् अभेदोपासनासे नहीं मिलती। अभेदोपासनासे ब्रह्ममें लय हो जाने-

वाली मुक्ति ही मिलती है। भेदरूपसे भगवान्की भक्ति करनेवाला यदि चाहे तो उसे भगवान्की कृपासे कैवल्य-मुक्ति भी मिल सकती है, किन्तु अभेदोपासना करनेवालोंको धाम-मुक्ति नहीं मिल सकती। यही भक्तिकी विशेषता है।

प्र०—श्रीकृष्णादि अवतार-विग्रह मायिक हैं अथवा अमायिक? उनका महत्त्व निर्गुण-निराकार ब्रह्मके समान ही है अथवा कुछ न्यूनाधिक?

उ०—भगवान्के अवतार-विग्रह मायाके दिव्य स्वरूपसे प्रकट होनेके कारण मायिक होनेपर भी अमायिक ही हैं। इसीलिये उस मायाको योगमाया अथवा भगवान्की लीला इत्यादि नामोंसे निर्दिष्ट किया गया है। अब रही परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपके तारतम्यकी बात, सो निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका तो वर्णन ही नहीं हो सकता, वह तो मन, वाणी और बुद्धिसे अगोचर, अनिर्वचनीय है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
'न तत्र बुद्धिर्गच्छति न वाग्गच्छति....'

जो कुछ वर्णन होता है वह सगुण परमात्माका ही होता है। सगुण ब्रह्मके दो भेद हैं—साकार और निराकार। प्रभुके जितने भी विशेषण पाये जाते हैं सभी उनके आभूषणरूप हैं, सभी उनके स्वरूपको सजानेवाले हैं, उनकी ओर जीवको आकर्षण करनेवाले हैं। यद्यपि वास्तवमें उनके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, फिर भी जो

कुछ किया जाता है सभी कल्याणकारक है। इसलिये प्रभुके निराकार और साकार दोनों ही विशेषण अतिशय महत्त्ववाले हैं, किसको छोटा और किसको बड़ा कहा जाय ? दोनों ही विशेषणोंसे विशिष्ट जो धर्मी है वह एक है, आवश्यकतानुसार नटकी भाँति अपनी योगमायासे स्वरूप बदलता रहता है। प्रधान वस्तु धर्मी है और वह एक ही है।

प्र०—गीताप्रेसकी टीकामें श्रीमद्भगवद्गीताके ७ वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यासे यह ध्वनि निकलती है कि साकार विग्रह मायिक है, असली स्वरूप नहीं है ?

उ०—यहाँ मायिक शब्दका तात्पर्य क्या है—यह भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। माया कहते हैं ईश्वरकी प्रकृति अथवा शक्तिको। और वह शक्ति शक्तिमान् अर्थात् ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे अग्नि अपनी दाहिका शक्तिसे भिन्न नहीं है। ईश्वर अपनी शक्तिसे ही प्रकट होते हैं और अपनी शक्तिसे ही अन्तर्हित हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं। यही उनकी लीला है और वह अत्यन्त रहस्यमयी है। यही भगवान्‌की ज्ञानमयी विशुद्ध दिव्य माया है और वह अलौकिक है, इसलिये भगवान्‌की लीलासे आविर्भूत हुए साकार विग्रहको नकली नहीं मानना चाहिये।

प्र०—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इस भगवद्वाक्यका उपर्युक्त सिद्धान्तसे विरोध पड़ता है ?

उ०—विरोध नहीं है । उक्त श्लोकसे तो उलटे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है । 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म मेरे आधारपर स्थित है, अर्थात् मैं आधार हूँ और ब्रह्म आधेय है । सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार कोई दो तत्त्व नहीं हैं कि उनमें आधाराधेयभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव-सम्बन्ध घट सके । दोनों एक ही तत्त्वके दो स्वरूप हैं । स्वरूपगत भेद होते हुए भी वस्तुतः एक ही है और इसी एकतामें उपर्युक्त श्लोकका तात्पर्य है । 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' का अर्थ यही है कि जिसे ब्रह्म कहते हैं वह मैं ही हूँ । मुझमें और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है ।

प्र०—शिव और विष्णुको मोह क्यों हुआ ?

उ०—शैवपुराणोंमें विष्णु और वैष्णवपुराणोंमें शिवके मोहका जो वर्णन मिलता है उसके भी रहस्यको समझना चाहिये । भगवान्‌के भिन्न-भिन्न साकार विग्रहोंकी महत्ता सिद्ध करनेके लिये ही भिन्न-भिन्न पुराणोंकी सृष्टि हुई है । भगवान्‌के सभी विग्रह महत्त्ववाले हैं और भिन्न होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं । सभी पुराणोंमें ग्रन्थकारका लक्ष्य तत्तदिष्टके रूपमें ब्रह्मकी ओर ही है । शिवपुराणके शिव, विष्णुपुराणके विष्णु और ब्रह्मवैवर्त तथा भागवतपुराणके कृष्ण एक ही हैं अर्थात् शुद्ध विज्ञानानन्द ब्रह्म ही हैं । वही ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें प्रकट होकर संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कार्य करते हैं । यह सब उनकी

लीला है। लीलासे की हुई उनकी क्रियाओंमें दोष नहीं है, भूलसे दोष-सा प्रतीत होता है। क्योंकि ईश्वरकी लीलाओंका रहस्य प्रत्येक साधारण बुद्धिवाले मनुष्यके लिये दुर्विज्ञेय है। वास्तवमें उन्हें मोह नहीं हुआ।

प्र०—श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-जहाँ अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि इत्यादि उत्तम पुरुषके प्रयोग आये हैं वे सब आत्माके वाचक हैं, भगवान् श्रीकृष्णके नहीं।

उ०—यह युक्तिसंगत नहीं है। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इत्यादि श्लोकोंमें आये हुए, अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि आदिका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सबका आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् मैं जो श्रीकृष्णरूपसे तुम्हारे सामने खड़ा हूँ वही निराकाररूपसे सबमें व्याप्त हूँ—सबके हृदयमें स्थित हूँ। (गीता १५। १५, १८। ६१) यहाँ आत्माकी प्रधानता नहीं अपितु परमात्मा श्रीकृष्णकी प्रधानता है। आपके कथनानुसार आत्माकी प्रधानता कदापि इष्ट नहीं है।

प्र०—परमात्माका सर्वोत्कृष्ट साकार विग्रह कौन-सा है?

उ०—इस सम्बन्धमें सिद्धान्त तो यह है कि भगवान्के सभी विग्रह दिव्य एवं श्रेष्ठ हैं, किन्तु आप यदि चतुर्भुजरूपको श्रेष्ठ मानें तो मान सकते हैं इसमें कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णके द्विभुज श्यामसुन्दर रूपका उपासक उसी रूपको सर्वोत्तम मान सकता है। जिसके लिये शास्त्रानुकूल जो रूप रुचिकर हो

और जिसको वह सर्वश्रेष्ठ मानकर उपासना करता है उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। शास्त्रोंमें जहाँ जिस रूपका प्रसङ्ग होता है, भक्तोंकी श्रद्धा और रुचि बढ़ानेके लिये वहाँ उसीको बड़प्पन दिया जाता है। यह नियम युक्तिसंगत है और एकाङ्गी उपासनाके लिये इसकी आवश्यकता है।

प्र०—भगवान्‌का चतुर्भुजरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुकी आवश्यकता है। द्विभुजरूपके लिये उसकी जरूरत नहीं?

उ०—भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुजरूपके दर्शन उनकी दयासे इन चक्षुओंसे भी हो सकते हैं। बालक ध्रुवको इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्‌के दर्शन हुए थे। चतुर्भुजरूपका ही क्यों, भगवान्‌के सभी दिव्य विग्रहोंके दर्शन उनकी दयासे चर्मदृष्टिसे भी हो सकते हैं। हाँ, जिस चर्मदृष्टिसे भगवान्‌के दर्शन होते हैं उसको भी पवित्र होनेके नाते हम दिव्य कह सकते हैं।

प्र०—अनधिकारियोंको भी दर्शन हो सकते हैं या नहीं? दर्शन होनेपर भी क्या पाप रह सकते हैं?

उ०—जिस समय भगवान् पृथिवीपर अवतार लेते हैं उस समय अधिकारी, अनधिकारी जो कोई भी उनके सम्मुख अथवा सम्पर्कमें आ जाते हैं उन सबको भगवान्‌के दर्शन अनायास ही हो जाते हैं; किन्तु भगवान्‌को बिना पहचाने, उनके तत्त्वको बिना समझे जो उनके दर्शन होते हैं वे विशेष मूल्यवान् नहीं कहे जा सकते और न वे मुक्तिदायक ही होते हैं। दर्शन हो जानेपर भी प्रभुको पहचाननेसे ही

मनुष्यके सारे पाप छूटते हैं और तभी वह परमपदका अधिकारी बनता है। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४।९)

'हे अर्जुन! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् श्रीराम-कृष्णादिरूपसे जिस समय पृथिवीपर विराजते थे उस समय जिन लोगोंको उनके दर्शन हुए वे सभी धन्य थे, किन्तु उनमेंसे सभी मुक्त हो गये हों, यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वे सभी भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें नहीं देखते थे।

प्र०—भगवद्दर्शनके बाद जो दशा ध्रुवकी हुई वह उन राक्षसों आदिकी क्यों नहीं होती थी जो भगवान्‌के सम्मुख आकर उनसे लोहा लेते थे?

उ०—वे राक्षसादि भगवान्‌के सम्मुख आनेपर भी उन्हें भगवान्‌के रूपमें पहचानते नहीं थे, इसीसे भगवद्दर्शन होनेपर भी उनकी ध्रुवकी-सी दशा नहीं होती थी। हाँ, जो लोग भगवान्‌के हाथसे मारे जाते थे वे उन्हें न पहचाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। यह भगवान्‌की विशेष दयालुता है। पारसका दृष्टान्त इसीमें घटाना चाहिये। जैसे पारसके

स्पर्शसे लोहा भी सोना हो जाता है उसी प्रकार भगवान्के हाथसे जिनकी मृत्यु होती थी वे महान्-से-महान् पापी होनेपर भी अथवा भगवान्को भगवान् न जाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। जैसे, विष देनेवाली पूतनाको भी भगवान्ने उत्तम गति दी। यह तो दयामय प्रभुकी अतिशय दयालुता एवं अनुपम उदारताका ही परिचायक है। मरते समय जिस किसी भावसे भी भगवान्का स्पर्श हो जानेपर जीवकी मुक्ति हो जाती है यह भगवान्का विशेष कानून है और इसके अन्दर उनकी अतिशय दया भरी हुई है। अन्त समयमें भगवान्के नाम-स्मरणसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो जाता है तब उनके साक्षात् दर्शन अथवा स्पर्श हो जानेपर यदि किसीकी मुक्ति हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्की शरण होनेपर तो पापी-से-पापी भी शाश्वत सुखके अधिकारी हो जाते हैं। वास्तवमें पारसका दृष्टान्त भी भगवान्के महत्त्वको समझानेके लिये पर्याप्त नहीं है, क्योंकि पारसके साथ लोहेका स्पर्श होनेसे ही वह सोना बनाता है, दर्शनमात्रसे नहीं—किन्तु भगवान्को भगवान्के रूपमें देखनेसे तो मनुष्य कल्याणका भाजन हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारस तो लोहेको सोना ही बनाता है, पारस नहीं बना सकता, किन्तु भगवान्को भगवान्के रूपमें देख लेनेपर मनुष्य भगवद्रूप ही हो जाता है। वह दूसरोंको भी भगवद्रूप बना सकता है।

भगवान्‌के सङ्ग क्रीड़ा करनेवाले गोपबालक और गोपबालाएँ तो परम अधिकारी हो गयीं। गीध और शबरीको भी उन्होंने योगिदुर्लभ गति दे दी; रीछ और वानरोंको भी उन्होंने जगत्पावन बना दिया और उनके हाथसे मरे हुए असंख्य राक्षस एवं आततायी सहजहीमें मुक्त हो गये। भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें श्रीरामायणादि ग्रन्थोंमें लेख मिलता है कि परमधामको पधारते समय वे सारे अयोध्या-वासियोंको—मनुष्योंको ही नहीं अपितु पशु, पक्षी आदि असंख्य जीवोंको भी अपने लोकमें ले गये।

प्र०—नरऋषिके अवतार दैवी सम्पदासे विभूषित भक्तश्रेष्ठ अर्जुनको गीतोपदेशसे पूर्व भगवान्‌के साथ खाने-पीने, सोने और उठने-बैठनेपर भी क्या मुक्ति नहीं हुई ?

उ०—अर्जुन तो वास्तवमें एक प्रकारसे मुक्त ही थे। उनके अन्दर जो कुछ यत्किञ्चित् कमी थी वह भी लोककल्याणकारी ही हुई, क्योंकि उसकी पूर्तिके बहाने भगवान्‌ने गीताके अनुपम ज्ञानका जगत्‌को उपदेश दिया।

प्र०—भगवान्‌के किस साकार-विग्रहकी पूजा स्वयं भगवान्‌की पूजा है ?

उ०—भगवान्‌के राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्यादि सभी साकार-विग्रहोंकी पूजा साक्षात् भगवान्‌की ही पूजा है तथा आर्षग्रन्थोंमें जिन देवताओंको ईश्वरका दर्जा दिया गया है, उनकी ईश्वरभावसे की गयी पूजा स्वयं भगवान्‌की

ही पूजा है । वास्तवमें ये सब नाम परब्रह्म परमात्माके ही वाचक हैं, क्योंकि पुराणोंके रचयिता महर्षि वेदव्यासने भिन्न-भिन्न पुराणोंमें इन-इन देव-विग्रहोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदिका वर्णन किया है और ये सभी धर्म सगुण ब्रह्मके हैं । यही नहीं, उन्होंने इन विग्रहों-के अन्दर ब्रह्मके और-और लक्षण भी घटाये हैं । वास्तवमें जिसके अन्दर ब्रह्मके पूर्ण लक्षण विद्यमान हों वही ब्रह्म है । अनेक नामरूपोंसे एक ही ब्रह्मकी लीला अनेक प्रकारसे बतलायी है । इसलिये प्रामाणिक आर्षग्रन्थोंमें जिनको ईश्वरत्व दिया गया है उनकी पूजा ईश्वरकी ही पूजा है । इनके अतिरिक्त सारे देवता अन्य देवता माने जाने चाहिये । उनकी पूजा भी भगवान्की पूजा है, क्योंकि उनके अन्दर भी ब्रह्मकी ही सत्ता है; परन्तु भगवान्से भिन्न माननेके कारण सकामभावसे की हुई वह पूजा अविधिपूर्वक मानी गयी है ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

'हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको ही पूजते हैं, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ।'

प्र०-स्त्रीके लिये पतिकी, शिष्यके लिये गुरुकी, पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवा-भक्ति भी क्या मोक्षदायक हो सकती है ?

उ०—अवश्य हो सकती है जब कि वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर ईश्वरके लिये एवं ईश्वर-बुद्धिसे की जाय। क्योंकि शास्त्र सब ईश्वरकी आज्ञा है और ईश्वर मानकर की हुई सेवाभक्ति ईश्वरकी ही भक्ति समझी जाती है।

प्र०—चराचर प्राणियोंको ईश्वर मानकर उनकी सेवा करना अर्थात् विश्वरूप भगवान्‌की पूजा करना उत्तम है अथवा मूर्तिपूजा ?

उ०—चराचर विश्वको ईश्वरका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करना और उनकी पार्थिव अथवा मानसिक मूर्तिकी भगवद्भावसे पूजा-अर्चा करना दोनों ही उत्तम हैं। श्रद्धा और भक्तिसे की जानेवाली दोनों प्रकारकी पूजा एक ही फलको देनेवाली है। जिसकी जैसी रुचि हो वह दोनोंमेंसे किसी प्रकारकी पूजा कर सकता है। यदि वह दोनों ही प्रकारकी पूजा एक साथ करे तो और भी उत्तम है।

प्र०—क्या ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा भी झूठ बोलनेमें अधिक पाप है ?

उ०—यह बात नहीं है। झूठकी पापोंमें गणना है और ब्रह्महत्या आदिको शास्त्रोंमें महापातक बतलाया है। इसलिये झूठको ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा बड़ा पाप नहीं कह सकते। हाँ, अन्य पापोंकी (महापातकोंकी नहीं) अपेक्षा झूठ बोलनेमें अधिक पाप माना गया है, क्योंकि झूठ एक प्रकारसे प्रायः सब पापोंकी जड़ है। झूठसे और-और पाप भी मनुष्य

करने लगता है । इसीलिये झूठको और-और पापोंसे अधिक बताया गया है ।

प्र०—आजकल लोग सत्यको विशेष आदर नहीं देते और कामिनी-काञ्चन तथा अभिमानके त्यागियोंमें भी असत्यका सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता ?

उ०—इतने अंशकी उनके अन्दर कमी ही माननी चाहिये । इस प्रकारके त्यागियोंमें प्रथम तो असत्यका दोष जान-बूझकर घटना ही नहीं चाहिये । क्योंकि राग-द्वेषके वश ही मनुष्य प्रायः झूठ बोलता है और ऐसे निरभिमानी पुरुषोंमें राग-द्वेषादि नहीं होने चाहिये; और यदि किसी अंशमें उनके अन्दर ये दोष घटते हैं तो इतने अंशमें उनके लिये लाञ्छन ही है और उनके त्यागके महत्त्वको घटानेवाले हैं । यदि वे लोग सत्यको जितना आदर देना चाहिये उतना नहीं देते तो यह उनकी भूल ही है । इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? सत्य परमात्माका स्वरूप है । केवल सत्यके आश्रयसे मनुष्य मोक्षका अधिकारी बन सकता है । सत्य अमृत है, सत्य सब गुणोंकी खानि है और यही सनातन-धर्म है । अतएव—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

(मनु० ४ । १३८)

'सत्य और प्रिय बोले, किन्तु सत्य होनेपर भी अप्रिय न बोले

यानी मौन रहे, और प्रिय होनेपर भी झूठ न बोले—यह सनातन धर्म है।'

प्र०—क्या कायिक तपकी अपेक्षा वाचिक, मानसिक तप विशेष मूल्यवान् हैं ?

उ०—श्रीमद्भगवद्गीतामें तपके कायिक, वाचिक और मानसिक—इस प्रकार तीन विभाग किये गये हैं। वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं अर्थात् कायिककी अपेक्षा वाचिक श्रेष्ठ है और मानसिक वाचिकसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इनके आचरणका उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व है। किन्तु तीनों ही परस्पर सम्बद्ध एवं एक दूसरेके सहायक हैं। इसलिये किसीको भी अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। कायिक और वाचिक तप, मानसिक तपमें सहायक हैं और मनोनिग्रह हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंका निग्रह अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन इन सबका राजा है। भगवान्ने तीनों ही प्रकारके सात्त्विक तपको पावन करनेवाला एवं अवश्य कर्तव्य बताया है। इसलिये भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्की प्राप्तिके लिये निष्काम भावसे तीनों प्रकारके ही तपका साधन करना चाहिये।

प्र०—क्या भगवान्का अनन्य-चित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण अन्य सब साधनोंसे श्रेष्ठ है ?

उ०—इसकी श्रेष्ठता तो सर्वप्रमाणसिद्ध है ही। अपनेको नित्य-निरन्तर अनन्य-चित्त होकर स्मरण करनेवालेके लिये

भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है और अर्जुनको स्पष्ट-रूपसे यह आज्ञा दी है कि तू मुझे सर्वकालमें स्मरण करता हुआ ही युद्ध कर, यह नहीं कि सर्वकालमें युद्ध करता हुआ मुझे स्मरण कर, क्योंकि युद्ध तो सर्वकालमें हो नहीं सकता और स्मरण सर्वकालमें—खाते, पीते, उठते, बैठते, बात करते—हो सकता है। इस प्रकार सब साधनोंमें स्मरणकी प्रधानता तो स्वयं भगवान्‌ने जगह-जगह बतलायी है। यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्म भी भगवत्स्मरण करते हुए ही होने चाहिये। यदि भगवत्स्मरण-के कारण इनमें किसी प्रकारकी कमी आ जाय तो इतनी आपत्तिकी बात नहीं है, किन्तु स्मरणमें भूल नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यही सबसे बड़ा साधन है और इसीमें प्रधानरूपसे सबको तत्पर हो जाना चाहिये। इस एकके सध जानेसे सब कुछ अपने आप सध जाते हैं और इस एककी कमी है तो सभी बातोंकी कमी है—

राम-नामको अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गये सब सून हैं, अंक रहे दस गून॥



प्रश्नोत्तर

दो सज्जनोंने श्रीभगवान् एवं श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्न सार्वजनिक हैं और ऐसे प्रश्न अनेकों पुरुषोंके मनमें उठते होंगे। इसलिये उनका उत्तर यहाँ दिया जाता है।

पहिले सज्जनके—

(१) प्रश्न—

(क) मैं चाहता हूँ मेरा भगवान्‌से प्रेम हो जाय।

(ख) मुझे उनके समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई न जान पड़े; और—

(ग) मैं उनके लिये सच्चे दिलसे रोऊँ, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—

(क) भगवान्‌में प्रेम न होनेका प्रधान कारण श्रद्धाकी कमी है। यद्यपि भगवान्‌में प्रेम होनेकी चाहना ही प्रेमकी प्राप्तिका

एक प्रधान उपाय है परन्तु यह चाहना बहुत ही उत्कट होनी चाहिये। ऐसी उत्कट इच्छा होनेका उपाय श्रद्धाकी अतिशयता ही है। भगवान्‌के प्रभाव और गुणोंको जाननेसे, भगवान् क्या हैं और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, इसके रहस्यको तत्त्वसे समझनेसे श्रद्धा होकर प्रेम हो सकता है।

वास्तवमें सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ भगवान् विज्ञानानन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं; अंश और अंशीरूपसे उनके साथ प्राणीमात्रका अटूट सम्बन्ध है तथा उनसे बढ़कर हमारा कोई भी सुहृद् नहीं है। इस बातको समझ लेनेपर भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। जैसे छोटे बालकका माता-पितामें स्वाभाविक प्रेम होता है, अंशी होनेके नाते वैसा ही स्वभावसिद्ध अनिवार्य प्रेम हमारा परमेश्वरमें होना चाहिये। यदि नहीं होता तो यह बात सिद्ध होती है कि हमलोगोंने इस विषयको यथार्थ समझा नहीं। यही बात गुण और प्रभावके विषयमें है। जब परिमित गुण-प्रभाववाले मनुष्योंके गुण-प्रभाव जान लेनेपर उनमें भी प्रेम हो जाता है, तब जिनमें प्रेम, दया, शान्ति, सुहृदता, वत्सलता आदि गुण और बुद्धि, बल, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि प्रभाव अपरिमित हैं उन अपने अंशी यानी स्वामी परमात्मामें स्वाभाविक ही अनन्य प्रेम न होना इसी बातको प्रमाणित करता है कि हम उन्हें तत्त्वसे जानते नहीं।

(ख) वास्तवमें भगवान्‌के समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई भी नहीं है परन्तु ऐसा मालूम नहीं होता; इसका कारण यह है कि साधारण लोगोंकी दृष्टिसे तो भगवान् अदृश्य हैं और भगवान्‌को जाननेवाले लोगोंसे हमारा पूरा परिचय या प्रेम नहीं है। इसलिये यदि हम यह समझना चाहते हों कि एक परमेश्वर ही सबसे बढ़कर प्रेमी और सुहृद् हैं तो उनके प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंका श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक संग करके उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसे पुरुषोंसे परिचय न हो या उनका मिलना और पहचानना कठिन हो तो महान् पुरुषोंकी जीवनी, उनके द्वारा रचित ग्रन्थ एवं ऐसे सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वकी विशेष आलोचना की गयी हो।

(ग) भगवान्‌के लिये सच्चे दिलसे रोना न आनेमें दो कारण हैं—श्रद्धाकी कमी और पूर्वसञ्चित पाप। भगवान् अदृश्य होनेके कारण उनमें और उनके गुण-प्रभाव आदिमें पूरा विश्वास नहीं होता, यह बात निश्चयरूपसे मनमें नहीं जँचती कि वे सब जगह सदा-सर्वदा मौजूद हैं और हमारी करुण पुकार तत्काल सुनते और उसपर दयार्द्र-हृदयसे ध्यान देते हैं। इसके लिये पूर्वोक्त उपायसे श्रद्धा बढ़ानी चाहिये और सञ्चित पापोंके नाशके लिये निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की आज्ञाका पालन और भजन-ध्यान करना चाहिये।

(२) प्रश्न—मनको जीतनेमें अशक्तिका अनुभव क्यों होता है ?

उत्तर–इसमें चार कारण हैं—

(क) जीवात्मा अपने सामर्थ्यको भूला हुआ है ।

(ख) साधारण चेष्टा करके बार-बार विफल होनेसे निराशा-सी हो गयी है ।

(ग) मनको स्वतन्त्रता दे रक्खी है । और—

(घ) विषयोंमें आसक्ति है ।

जैसे कोई समर्थ पिता स्नेहासक्तिवश बालकको स्वतन्त्रता दे देता है जिससे बालककी आदत बिगड़ जाती है और वह उद्दण्ड होकर मनमाना आचरण करने लगता है, परन्तु वही पिता जब बालककी स्वतन्त्रता छीनकर अपनी शक्तिका बड़ी सावधानीके साथ पूरा प्रयोग करता है और साम, दाम आदि नीतिसे उसे वश करनेकी चेष्टा करता है तब सम्भवतः वह बिगड़ा हुआ बालक पुनः ठीक रास्तेपर आ जाता है। बस, यही दशा मनकी है; मन स्वतन्त्र होकर उद्दण्ड हो गया है। अतएव मनुष्यको उचित है कि वह अपने सामर्थ्यकी ओर ध्यान देकर साम, दाम आदि नीतिके द्वारा मनकी बुरी आदतोंको दूरकर उसकी उद्दण्डताका नाश करके उसे ठीक राहपर लानेके लिये तीव्र अभ्यास करे। बालक तो शायद पिताके शक्तिप्रयोग करनेपर भी उद्दण्डता छोड़कर ठीक राहपर न भी आवे परन्तु मनके लिये तो दूसरा आश्रय ही नहीं है। उसे तो बाध्य होकर ठीक

रास्तेपर आना ही पड़ेगा। सम्भव है कि पहले-पहले कुछ निष्फलता-सी हो परन्तु उत्साह कम न होने देना चाहिये। निष्फल होनेपर भी पूर्ण उत्साहसे पुनः-पुनः प्रयत्न करना चाहिये। उत्साही पुरुष निश्चय ही मनको अपने वशमें कर लेते हैं। यह याद रखना चाहिये कि आत्माके सामने मनकी शक्ति अत्यन्त तुच्छ है। आत्मा मनकी अपेक्षा सब प्रकारसे श्रेष्ठ और बलवान् है। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता ३। ४२)

अर्थात् (इस शरीरसे तो) इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे (भी) अत्यन्त परे है वह (आत्मा) है। इसीलिये भगवान् मनको जीतकर आत्माको हानि पहुँचानेवाले आसक्तिरूप कामको मारनेका आदेश करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४३)

अर्थात् इस प्रकार बुद्धिसे परे यानी सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! (अपनी शक्तिको समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रुको मार!

(३) प्रश्न—विषयोंके त्याग करनेमें असमर्थता क्यों मालूम होती है ?

उ०—विषयोंके भोगमें प्रथम क्षणिक सुख और आरामका प्रत्यक्ष प्रतीत होना और उसके परिणाममें होनेवाला दुःख प्रत्यक्ष न होकर दूर होनेके कारण उसमें पूरा विश्वास न होना, (यानी कौन जानता है आगे चलकर कब क्या दुःख होगा, अभी तो प्रत्यक्ष सुख है ऐसी धारणा) यही विषयोंके त्यागमें असमर्थता-सी प्रतीत होनेका कारण है । वास्तवमें तो विषयोंमें सुख है ही नहीं, क्योंकि विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख क्षणिक, भोगकालमें सदा एक-सा न रहकर सतत बदलनेवाला तथा नाशवान् है । सुखका मिथ्या आभास ही अज्ञानके कारण मनुष्यको सुखमय प्रतीत होता है । जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके अन्दर सूर्य-सा दिखायी देता है परन्तु वास्तवमें वह सूर्य नहीं है, इसी प्रकार उन आनन्दघन परमात्माके केवल किसी एक अंशमात्रका, विषयोंमें प्रतीत होनेवाला प्रतिबिम्ब वस्तुतः सुख नहीं है । इस रहस्यके समझमें आते ही विषय-त्यागमें प्रतीत होनेवाली असमर्थता नष्ट हो जाती है । फिर स्वाभाविक ही विषयोंका त्याग हो जाता है । विचार करना चाहिये कि जो वस्तु वास्तवमें सत् होती है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका आदि-अन्तमें अभाव है वह वस्तु वास्तवमें सत् नहीं है । ऐसी वस्तुका मध्यमें भी अभाव ही समझना चाहिये, जैसे स्वप्नका संसार ।

इसी तत्त्वको समझकर ज्ञानीजन नाशवान् दुःखपूर्ण क्षणिक विषयोंमें आसक्त नहीं होते। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

अर्थात् (ये) जो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे (यद्यपि अज्ञानी विषयी पुरुषोंको सुखस्वरूप भासते हैं तो भी) निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले यानी अनित्य हैं (इसलिये) हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

अतएव विषयोंके त्याग करनेके लिये बारम्बार उनमें दुःख और दोष-दृष्टि करके उनसे मनको हटाना चाहिये।

(४) प्र०—भगवान्‌में श्रद्धा क्रमशः घटनेका क्या कारण है?

उ०—इसमें कई कारण हैं, जैसे—

(क) अज्ञानवश संसारके विषयोंमें आसक्ति होना।

(ख) विषयोंका तथा विषयासक्त पुरुषोंका संसर्ग।

(ग) सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंके संगकी कमी।

(घ) निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-जप और स्वरूपके ध्यानका उचित अभ्यास न होना।

(ङ) मुख्यतः भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको न जानना।

असलमें तत्त्वको जानकर निष्काम भावसे होनेवाली वास्तविक श्रद्धाके घटनेका तो कोई कारण ही नहीं है। वह तो साधनको प्रबल बनाती है और उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। परन्तु अज्ञानपूर्वक किसी कामनाके हेतुसे होनेवाली श्रद्धा घट भी सकती है। इसके लिये विषयोंका, विषयासक्त पुरुषोंका एवं आसक्ति तथा कामनाओंका यथासाध्य त्यागकर निष्कामभावसे यथासाध्य सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंमें श्रद्धा, प्रेमसे उनका सङ्ग एवं सतत भजन-ध्यानका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेसे वह भगवान्‌का तत्त्व जान लेता है तब श्रद्धा वास्तविक होती है और फिर उसके घटनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

(५) प्रश्न—अपनेको यन्त्र और भगवान्‌को यन्त्री किस प्रकार समझा जाय ?

उ०—ईश्वरकी दया और महापुरुषोंके सङ्गसे ही भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र समझा जा सकता है। यदि कहा जाय कि ईश्वरकी दया तो सबपर सदा ही समानभावसे अपार है ही, फिर ऐसा क्यों नहीं समझा जाता ? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही ईश्वरकी सब लोगोंपर अपार दया है, परन्तु इस बातको लोग मानते नहीं, इसी कारण दया उनके लिये फलती नहीं। ईश्वरकी नित्य अपार दयाका मनुष्यको पद-पदपर अनुभव

करना चाहिये । ईश्वरकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर उसी क्षण मनुष्य अपने आपको सम्पूर्णरूपसे उन यन्त्री भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देता है । यानी सब प्रकारसे वह श्रीभगवान्‌के शरण होकर अपनेको सदाके लिये उन्हें सौंप देता है । वह फिर ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकता ।

(६) प्र०—भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन और उनकी पहचान किस प्रकार हो ?

उ०—सच्चे भक्तोंके दर्शन होनेमें हेतु पूर्वकृत पुण्यसञ्चय, ईश्वरकी दया, उनके भक्तोंकी दया और ऐसे महात्मा भक्त पुरुषोंमें श्रद्धा और प्रेमका होना ही है । भक्तके मिलनेपर भी उनको पहचानना बहुत कठिन है । वास्तवमें ईश्वरकी दया और भक्तोंकी दयासे ही भक्तकी पहचान हो सकती है । क्योंकि साधारण पुरुष अपनी बुद्धिसे भक्तोंको यथार्थरूपमें नहीं पहचान सकता । यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२ में श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन है, परन्तु उन लक्षणोंसे यथार्थ निर्णय करके भक्तको पहचानना साधारण बुद्धिका काम नहीं है । हाँ, जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तन आदिसे अवगुणों और दुराचारोंका क्रमशः नाश और सद्गुण, सदाचार एवं ईश्वर-भक्तिकी क्रमशः वृद्धि हो, साधारणतया उन्हींको ईश्वरके यथार्थ भक्त समझना चाहिये ।

दूसरे सज्जनके—

(१) प्रश्न—

(क) गीता अ० ९ श्लोक २३ के अनुसार जब सात्त्विक देवोंकी पूजा भी भगवान्‌की अविधिपूर्वक पूजा है तो फिर विधि-पूर्वक कौन-सी है और उसका क्या स्वरूप है ?

(ख) वे अन्य देवता कौन-से हैं ?

(ग) 'माम्' शब्दसे यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका आदेश केवल श्रीकृष्ण-स्वरूपकी पूजासे ही है अथवा श्रीराम, नारायण या निर्गुण ब्रह्मकी पूजा भी इसके अनुसार हो सकती है ?

उत्तर—

(क) भगवान्‌ने यहाँ अन्य देवताओंकी सकाम पूजाको ही देवताओंके लिये विधिपूर्वक होते हुए भी अपने लिये अविधिपूर्वक बतलाया है, क्योंकि उन देवताओंद्वारा जो फल मिलता है वह तो श्रीभगवान्‌का ही विधान किया हुआ होता है। 'मयैव विहितान् हि तान्' और फल उनको अन्तवन्त प्राप्त होता है इसलिये अन्य देवताओंकी सकामोपासना करनेवाला श्रीभगवान्‌के प्रभावको नहीं जानता है। परन्तु फल और आसक्तिको छोड़कर भगवान्‌को आज्ञा मानकर निष्कामभावसे देव-पूजा करना भगवान्‌की ही पूजा है। इसीको भगवान् अपनी सात्त्विक और विधिपूर्वक पूजा बताते हैं।

(ख) अन्य देवताओंसे श्रीभगवान्‌का उद्देश्य शास्त्रोक्त देवताओंसे

है जिनमें मुख्यतः ३३ हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति । इसके सिवा विश्वेदेवा देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण आदि और भी बहुत-से शास्त्रोक्त देव हैं। इनमेंसे जिस किसी देवताको परात्पर ब्रह्म मानकर साधक पूजा करता है, उससे भिन्न सारे ही देवता उस साधकके लिये अन्य देवता समझे जाने चाहिये ।

(ग) 'माम्' शब्दसे यथार्थतः इस प्रसङ्गमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपने श्रीकृष्णस्वरूपका ही आदेश दिया है परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् राम, विष्णु आदि स्वरूपोंसे और निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण सभीका समझना चाहिये ।

(२) प्रश्न—

(क) वेदान्त-मतमें अनन्यताका भाव 'वासुदेवः सर्वमिति' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार एक ब्रह्मके सिवा अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न कर सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा देखना समझमें आता है परन्तु साथ ही द्वैत-मतके 'जीव कि ईश समान' इत्यादि वचनोंसे जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, अतः अनन्यता किसे कहते हैं ?

(ख) शिव या विष्णुके उपासकोंको एक दूसरेके इष्टके प्रति मैत्री, उदासीनता या द्वेष कैसा भाव रखना चाहिये ? पार्वतीके ये वचन—

महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुनधाम ।
जाको मन रम जाहिसों, ताहि ताहिसन काम ॥

—से तो शैवकी विष्णुके प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट होती है। ऐसे ही और भी प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं।

(ग) गीता अ० १७। १४ में 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' को शारीरिक तप कहा है। यहाँ कौन-सी देवपूजा अभिप्रेत है, नित्य अथवा नैमित्तिक ? इस देव-पूजाका स्वरूप क्या है ?

(घ) गीताके अनुसार जिस ज्ञानद्वारा एकसे दूसरेमें भेद प्रतीत होता है, वह राजसी ज्ञान है, सात्त्विक नहीं। तो क्या द्वैतमतानुयायियोंका अनन्य भाव राजसी ज्ञानका समर्थक नहीं है ?

उत्तर—

(क) वेदान्तके मतानुसार उनका अनन्यताका भाव ठीक ही है और जीव-ईश्वरका भेद माननेवाले द्वैतानुयायियोंका कहना भी युक्तियुक्त ही है। परन्तु अर्जुनके प्रति गीतामें जहाँ-जहाँ अनन्य शब्द आया है, वह प्रायः भेदकी दृष्टिसे ही प्रतीत होता है। भेदोपासनाके अनुसार अनन्यताका स्वरूप केवल एक अपने स्वामीको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका स्मरण करना ही है।

(ख) शैव और वैष्णव सबको अपने-अपने इष्टके प्रति अनन्यभाव रखते हुए एक दूसरेके प्रति उदासीनता या द्वेष-भाव न रखकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा समझकर पूज्य-भाव ही रखना चाहिये। भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंको शङ्कर-भजनकी आज्ञा दी है। जैसे—

औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि ।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावहि मोरि ॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्यभाव रखना चाहिये । पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसङ्गमें है । वैसे प्रसङ्गमें वही कहना उचित है ।

(ग) गीता अ० १७ । १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार षोडशोपचारसे करनी चाहिये ।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं कहता, क्योंकि* श्रीभगवान्‌ने स्वयं आज्ञा दी है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

(गीता ९ । १५)

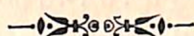
गो० तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेष प्रशंसा की है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरै उरगारि ।
भजहु राम-पदपंकज, अस सिद्धान्त बिचारि ॥

---

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है ।

भगवत्प्राप्तिके उपाय



संसारमें सबसे बढ़कर और सबसे उत्तम प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है परमानन्द एवं परम प्रेममय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति। किन्तु वह होती है सम्पूर्ण संसारमें अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम होनेसे। भगवान्‌का तत्त्व जाननेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, जो भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है वह फिर एक क्षण भी भगवान्‌से अलग नहीं रह सकता। उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होते रहते हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ तथा वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है' क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है। यही परमात्माका रहस्य है, इसीको गीतामें भगवान्‌ने गुह्यतम बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(९।१)

औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावहि मोरि॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्यभाव रखना चाहिये। पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसङ्गमें है। वैसे प्रसङ्गमें वही कहना उचित है।

(ग) गीता अ० १७। १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार षोडशोपचारसे करनी चाहिये।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं कहता, क्योंकि* श्रीभगवान्ने स्वयं आज्ञा दी है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९। १५)

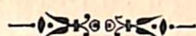
गो० तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेष प्रशंसा की है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम-पदपंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

---

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है।

भगवत्प्राप्तिके उपाय



संसारमें सबसे बढ़कर और सबसे उत्तम प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है परमानन्द एवं परम प्रेममय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति। किन्तु वह होती है सम्पूर्ण संसारमें अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम होनेसे। भगवान्‌का तत्त्व जाननेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, जो भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है वह फिर एक क्षण भी भगवान्‌से अलग नहीं रह सकता। उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होते रहते हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ तथा वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है' क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है। यही परमात्माका रहस्य है, इसीको गीतामें भगवान्‌ने गुह्यतम बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(९।१)

'हे अर्जुन ! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय ज्ञानको रहस्यके सहित कहूँगा कि जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ।' इसलिये यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर पाकर तो भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको जानकर विशुद्ध प्रेमके द्वारा केवल उसकी प्राप्तिके लिये ही तत्पर होकर चेष्टा करनी चाहिये ।

प्र०—मनुष्यका शरीर कैसे मिलता है ?

उ०—ईश्वरकी अहैतुकी दयासे ।

कबहुँक करि करुणा नर देही । देत ईश बिनु हेतु सनेही ॥

कैसा भी दुराचारी एवं नास्तिक क्यों न हो, मुक्तिके लिये भगवान् उसको भी अवसर देते हैं ।

प्र०—क्या इस घोर कलियुगमें भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है ?

उ०—निश्चय हो सकती है, बल्कि और युगोंकी अपेक्षा और भी सुगमतासे ।

कलियुग-सम युग आन नहिं, जो नर कर विश्वास ।
गाइ रामगुणगण विमल, भव तर बिनहिं प्रयास ॥
कलियुग केवल नाम अधारा । सुमिर सुमिर भव उतरै पारा ॥

(तुलसीदासजी)

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णुपुराण ६ । २ । १७)

'सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञानुष्ठानसे और द्वापरमें भगवान्‌के पूजनसे मनुष्य जो गति प्राप्त करता है वही कलियुगमें श्रीकेशवके नामसंकीर्तन करनेसे पा लेता है।'

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
शान्तिः कलौ ह्यघौघस्य नामसङ्कीर्तनं हरेः॥

'अग्निको शान्त करनेमें जल और अन्धकारको दूर करनेमें सूर्य समर्थ है तथा कलियुगमें पाप-समूहकी शान्तिका उपाय श्रीहरिका नाम-संकीर्तन है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० नारद० १।४१।१५)

'केवल श्रीहरिका नाम ही मेरा जीवन है, इसके अतिरिक्त कलियुगमें और कोई उपाय है ही नहीं।'

प्र०—भगवान्‌की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रारब्धसे मिलती है या पुरुषार्थसे? यदि प्रारब्धसे मिलती है तो उसके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है और यदि पुरुषार्थसे मिलती है तो उस पुरुषार्थका स्वरूप क्या है?

उ०—परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति न प्रारब्धसे मिलती है और न केवल पुरुषार्थसे ही। मिलती है महापुरुषोंकी दयासे। जिसपर भगवान्‌की दया होती है उसीपर महापुरुषोंकी दया होती है।

जापर कृपा रामकर होई। तापर कृपा करै सब कोई॥

इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की ही दयासे होती है। जो पुरुष ईश्वरकी प्राप्तिको प्रारब्धसे होना मानता है वह अकर्मण्य एवं आलसी है। ऐसे प्रारब्धके भरोसेपर रहनेवाले उद्यमहीन मूढ़के सभी कर्म जघन्य (घृणित) होकर उसका पतन हो जाता है।

जो पुरुष परमात्माकी प्राप्तिको केवल अपने पुरुषार्थके बलपर ही मानता है वह भी अभिमानके फन्देमें फँसकर गिर जाता है। किन्तु जो ईश्वरकी शरण हुआ अपनेको निमित्त बनाकर उत्साहके सहित प्रसन्नचित्तसे, न उकताकर कटिबद्ध रहता हुआ, ईश्वरके बल और भरोसेपर कोशिश करता है उसीका पुरुषार्थ ईश्वरकी दयासे सिद्ध होता है।

प्र०—भगवान्‌की दया तो सभीपर समानभावसे है, फिर सबको भगवान्‌की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

उ०—भगवान्‌की पूर्ण दया सभीपर समानभावसे है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। किन्तु जैसे कोई दरिद्री मनुष्य अपने घरमें गड़े हुए धनको न जाननेके कारण तथा अपने पासमें पड़े हुए पारसको न जाननेके कारण लाभ नहीं उठा सकता, वैसे ही मूर्खलोग भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको न जाननेसे ही लाभ नहीं उठा सकते। भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेसे शोक, भयका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जैसे कोई भयातुर मनुष्य राजाकी दयाका सहारा पाकर निर्भय और सुखी हो जाता है। भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन

आदि भगवान्‌की दयाके रहस्यको जानते थे, इसलिये वे कृतकृत्य हो गये; किन्तु अज्ञानके कारण दुर्योधनादि न हो सके।

प्र०—प्रभावसहित भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको जाननेके लिये सरल उपाय क्या है ?

उ०—भगवान्‌की अनन्यशरण।

प्र०—अनन्यशरण किसको कहते हैं ?

उ०—भगवान्‌के किये हुए प्रत्येक विधानमें प्रसन्नचित्त रहना, निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर उसके स्वरूपका चिन्तन करते हुए उसके नामका जप करना एवं उसकी आज्ञाका पालन करना, यही भगवान्‌की अनन्यशरण है। इसका विस्तृत वर्णन 'इसी पुस्तकके'* प्रथम भागके 'शरणागति' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

प्र०—अनन्यशरण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—जो पुरुष भगवान्‌के प्रभाव एवं तत्त्वको जाननेवाले हैं तथा जो भगवान्‌की अनन्यशरण हो चुके हैं ऐसे प्रेमी भक्तोंका संग करके, उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे ही, मनुष्य भगवान्‌की अनन्यशरण हो सकता है।

प्र०—प्रथम तो ऐसे भक्त ही संसारमें कम हैं, इसलिये उनका मिलना भी दुर्लभ है। यदि मिल भी जायँ तो उनको

---

* यह पुस्तक गीताप्रेससे मिल सकती है। मूल्य ॥=), छोटी साइज मूल्य ।-)

पहचाना नहीं जा सकता, ऐसी अवस्थामें मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

उ०–यद्यपि ऐसे पुरुष संसारमें कम हैं, किन्तु श्रद्धा और प्रेमयुक्त मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेसे मिल सकते हैं और पहचानने-में भी आ सकते हैं। यदि भगवान्‌की प्राप्तिवाले पुरुष न मिलें, तो जिनके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी अत्यन्त उत्कट इच्छा जागृत हो गयी है और जो भगवान्‌को ही सर्वोत्तम मानकर उनका ही भजन-ध्यान करते हैं, जैसे अत्यन्त लोभी धनकी प्राप्तिके लिये तत्पर होकर चेष्टा करते हैं वैसे ही जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करते हैं तथा केवल भगवान् ही जिनको अत्यन्त प्रिय हैं उन जिज्ञासु पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। तथा भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करके उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

प्र०–भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्र कौन-से हैं ?

उ०–सामान्यतासे तो सभी आर्ष-ग्रन्थ सत्-शास्त्र हैं। वेद, उपनिषद् स्वतःप्रमाण एवं भगवान्‌के श्वास होनेके कारण तथा गीता स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेके कारण यह सब तो भगवत्-कथित ही ग्रन्थ हैं। स्मृतियाँ, दर्शनशास्त्र, रामायण, इतिहास, पुराण आदि महात्मा एवं महर्षियोंद्वारा रचे गये हैं। इसलिये ये सब भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित ग्रन्थ हैं, अतएव सभी सत्-शास्त्र हैं।

प्र०—विस्तार एवं दुर्गम होनेके कारण इन सबका अभ्यास सभी मनुष्य नहीं कर सकते ? इसलिये इन सबमें सर्वोत्तम कल्याणकारक एवं सबके लिये सुगम कौन-सा शास्त्र है ?

उ०—शास्त्र सभी कल्याणकारक हैं, इसलिये शास्त्रोंका जितना अधिक अभ्यास किया जा सके उतना ही उत्तम है, परन्तु आत्माके कल्याणके लिये तो केवल एक गीताशास्त्र ही पर्याप्त है। सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या, इसमें सैकड़ों श्लोक तो ऐसे हैं कि जिनमेंसे एक श्लोकके अनुसार जीवन बना लिया जाय तो भी कल्याण हो सकता है।

जैसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठनपाठनका प्रेमसहित, निष्काम भावसे, निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और

सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है* ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है ।'

यह गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार इसमें भरा हुआ है । इसलिये इस गीताशास्त्रको सर्वोत्तम कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी । महाभारतमें कहा भी है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(भीष्मपर्व ४३ । १)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है । जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णु भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है, ऐसे गीताशास्त्रके रहते हुए अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

इसकी संस्कृत भी बड़ी मधुर और सरल है । इसलिये जिनको थोड़ा भी संस्कृतका ज्ञान है वे भी अभ्यास करनेसे इसको समझ सकते हैं । इसका अर्थ साधारण भाषाटीकामें भी लिखा गया है, इसलिये हिन्दी जाननेवालोंके लिये भी सुगम है । तथा इसका अनुवाद प्रायः सभी भाषाओंमें हो गया है । अतएव सभीके लिये सुगम और सुलभ है ।

प्र०—सत्सङ्ग करनेके समय मनुष्यकी जैसी सात्त्विक वृत्तियाँ रहती हैं वैसी वृत्तियाँ निरन्तर नहीं रहतीं, इसका क्या कारण है ?

---

* सर्वत्र भगवत्-बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है ।

उ०—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके सङ्गके साधनकी कमी एवं विषयासक्ति और सञ्चित पापोंका समूह तथा कुसङ्ग ही इसमें प्रधान कारण है। जैसे अमावस्याकी रात्रिमें जंगलमें पड़े हुए मनुष्यके लिये प्रज्वलित दीपक, बिजली एवं अग्नि आदिकी रोशनीसे जंगलमें भी मंगल (उजियाला) हो जाता है और उनके अभावमें पुनः अन्धकार छा जाता है। वैसे ही रजोगुण, तमोगुणरूप रात्रिमें पड़े हुए मनुष्यके लिये सत्सङ्ग ही महाप्रकाश है। उसकी प्राप्ति होनेसे हृदयमें उजियाला हो जाता है, दूर होनेसे पुनः अन्धकार छा जाता है। विषयोंका एवं नीच पुरुषोंका सङ्ग पाकर वह रजोगुण-तमोगुणमयी रात्रि, अमावस्याकी रात्रिमें आँधी आनेकी भाँति विशेष अन्धकारमय बन जाती है। इसलिये विषयोंमें आसक्ति एवं कुसङ्गका त्यागकर सत्पुरुष और सत्-शास्त्रोंका सङ्ग निरन्तर करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिये।

प्र०—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी इच्छा होनेपर भी सर्वथा चला नहीं जाता, इसका क्या कारण है?

उ०—विषयोंमें आसक्ति एवं श्रद्धा-प्रेमकी कमी ही प्रधान कारण है। क्योंकि शारीरिक आरामकी बुरी आदत पड़ी हुई है, इसलिये भोग, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सांसारिक सुख प्रत्यक्ष दीखता है। परिणाम चाहे उसका कैसा भी बुरा क्यों न हो, किन्तु मूर्खताके वशमें होकर मनुष्य उसका

सेवन कर लेता है। जैसे वैद्यके बतलाये हुए पथ्यको हितकर समझता हुआ भी मूर्ख रोगी आसक्तिवश कुपथ्य कर लेता है। शास्त्र और महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेमें प्रथम परिश्रम-सा मालूम देता है, यद्यपि परिणाम इसका बहुत ही उत्तम है। किन्तु पूरा विश्वास न होनेके कारण उसमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी आ ही जाती है। इसलिये इच्छा होनेपर भी उनके अनुसार नहीं चला जाता।

प्र०—विषयोंमें आसक्तिका नाश होकर भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये?

उ०—भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेसे भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा होती है तथा अतिशय श्रद्धासे अनन्य प्रेम होता है और भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेसे संसारके विषय-भोगोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अतएव भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेके लिये भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा एवं शास्त्रोंद्वारा श्रवण, पठन और मनन करके उनके कथनानुसार अपना जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे अन्तःकरण पवित्र होकर भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व सहजमें ही जाना जा सकता है।



भगवान्के लिये काम कैसे किया जाय ?



प्र०—प्रसन्नतापूर्वक भगवान्का काम समझकर भगवान्को याद रखते हुए किसीसे भी रागद्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—सब कुछ परमेश्वरका ही है, परमेश्वर खेल कर रहे हैं, परमेश्वर बाजीगर हैं, मैं उनका झमूरा हूँ, यों समझकर सब कुछ ईश्वरकी लीला समझते हुए, परमेश्वरकी आज्ञानुसार आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, परमेश्वरकी सेवाके लिये

उन्हींकी प्रेरणा तथा शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य करता रहे। यह समझकर बार-बार गद्गद होता रहे कि अहा! मुझपर परमेश्वरकी कितनी अपार दया है कि मुझ-जैसे तुच्छको साथ लेकर भगवान् अपनी लीला कर रहे हैं। भगवान्के प्रेम, दया, प्रभाव, स्वरूप और रहस्यपर बारम्बार विचार करता हुआ मुग्ध होता रहे।

(प्रेम) भगवान्के समान कोई प्रेमी नहीं है, वे प्रेमका इतना महत्त्व जानते हैं कि असंख्य ब्रह्माण्डके महेश्वर होते हुए भी अपनेको प्रेमीके हाथ बेच डालते हैं।

(दया) मैं कैसा नीच हूँ, कैसा निकृष्ट और महापामर हूँ, परन्तु उस परम प्रभुकी मुझपर कितनी अपार दया है कि वे मुझको साथ लेकर लीला कर रहे हैं। प्रभुने सब पाप-तापोंसे बचाकर मुझे ऐसा बना लिया है।

(प्रभाव) प्रभुके प्रभावका कौन वर्णन कर सकता है, वे चाहें तो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको एक पलमें उत्पन्न, पालन और संहार कर सकते हैं।

(स्वरूप) सारे संसारका सौन्दर्य प्रभुके एक रोमके समान भी नहीं है। वे आनन्दमूर्ति हैं। उनका दर्शन परम सुखमय है। वे चेतनमय हैं। जैसे तारके द्वारा बिजली अनेक प्रकारसे कार्य कर रही है, वैसे ही प्रभुकी शक्ति सब कुछ कर रही है। वे विज्ञानानन्दघन

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। वही नित्य विज्ञानानन्दघन प्रभु श्रीराम-कृष्ण आदिके रूपमें अवतार लेते हैं।

(रहस्य) उनका रहस्य कौन जान सकता है ? वे सबमें समाये हैं परन्तु कोई उन्हें नहीं पकड़ पाता। मर्मका नाम ही रहस्य है। भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, उस रूपमें बहुत लोगोंने उन्हें भगवान् नहीं समझा। कोई ग्वालबालक समझता था तो कोई वसुदेव-पुत्र। जो महात्मा पुरुष उनको भगवान्‌के रूपमें जान गये, उन्हींपर उनका रहस्य प्रकट हुआ। प्रभुके रहस्यको जान लेनेपर चिन्ता, दुःख और शोकका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं रहता। प्रभु सब जगह विराजमान हैं, इस रहस्यको जानना चाहिये। अर्जुन भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते थे और उनसे रथ हँकवाते थे परन्तु वे भी भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भय और हर्षके मिश्रित भावोंमें डूब गये। तब भगवान्‌ने कहा 'भय मत कर !' जबतक अर्जुनको भय हुआ तबतक उन्होंने भगवान्‌के पूरे रहस्यको नहीं समझा। पहचानना तो वस्तुतः यथार्थमें प्रह्लादका था, जो भगवान् नृसिंहदेवको विकरालरूपमें देखकर भी बेधड़क उनके पास चले गये। प्रह्लादको किञ्चित्

भी भय नहीं हुआ । इसी प्रकार परमात्माके रहस्यको जाननेवाला सर्वदा सर्वत्र निर्भय हो जाता है ।

प्र०—जीवमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभुके रहस्यको जान सके । जब प्रभु जनाते हैं तभी जान सकता है । प्रह्लादको प्रभुने जनाया तभी तो वे भगवान्‌को जान सके । वे हमलोगों-को अपना रहस्य किस उपायसे जना सकते हैं ?

उ०—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये । वे कृपा करके जना सकते हैं । परन्तु यह नियम है कि पात्र होनेसे ही प्रभु अपनेको जनाते हैं इसलिये भगवान्‌की दयापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये । भक्तशिरोमणि भरतजीने भी कहा था—

जो करनी समुझैं प्रभु मोरी । नहिं निस्तार कल्प शत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे मन भरोस दृढ़ सोई । मिलिहैं राम सकुन शुभ होई ॥

ऐसा दृढ़ भरोसा रखनेवालेकी प्रभु सम्हाल करते हैं । अतएव प्रभुसे सच्चे दिलसे ऐसी कातर-प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ ! मैं अति नीच हूँ, किसी प्रकार भी पात्र नहीं हूँ । गोपियोंकी भाँति जिसमें प्रेमका बल है, उसके हाथ तो आप स्वयं ही बिक जाते हैं । हे प्रभो ! मेरे पास प्रेमका बल होता तो फिर रोने और प्रार्थना करनेकी क्या जरूरत थी । मैं जब अपने पापों और अवगुणोंकी तथा बलकी ओर देखता हूँ तो मनमें कायरता और निराशा छा

जाती है परन्तु हे नाथ ! आपकी दया तो अपार है, आप दया-सिन्धु हैं, पतितपावन हैं, मुझे वह बल दीजिये जिससे मैं आपके रहस्यको जान जाऊँ ।'

सारे कामोंको प्रभुका काम समझना चाहिये । हम लीला-मयके साथ काम कर रहे हैं । इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये । यदि आसक्ति या स्वभावदोषके कारण उनकी आज्ञाका कहीं उल्लंघन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये ।

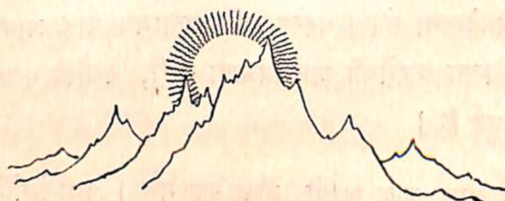
अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये । हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् दैव-इच्छासे उसकी कोई हानि हो जाय तो उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये । हमको अपने कृत्यकी भूलके लिये ही पश्चात्ताप करना उचित है ।

हमको सूचना मिली कि यहाँ बहुत जल्दी बाढ़ आनेवाली है, हट जाना चाहिये । इस बातको जानकर भी हम नहीं हटे और हमारा सब कुछ बह गया तो हमें पश्चात्ताप करना चाहिये । क्योंकि भगवान्‌ने हमको सचेत कर दिया था और हमने उसको माननेमें अवहेलना की । परन्तु यदि अचानक बाढ़ आकर सब डूब जाय तो चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ हमारी भूल नहीं हुई है ।

एक जगह बाढ़ आयी, बीज बह गये । हमलोगोंने बोनेके लिये किसानोंको बीज दिये, फिर बाढ़ आयी, और वे बीज भी बह

गये । इसपर हमलोगोंको न तो शोक करना चाहिये और न यह विचार करना चाहिये कि बीज तो बह ही रहे हैं, व्यर्थ देकर क्यों नष्ट करें । हमलोगोंको तो स्वामीकी यही आज्ञा है कि बीज जहाँतक बने, उन्हें देते रहो । अतः हमको तो प्रभुकी आज्ञानुसार ही करना चाहिये । उसमें कोई कसर नहीं रखनी चाहिये । प्रभु अपनी इच्छानुसार करें । सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और मुस्तैदीसे अपने कर्त्तव्यपथपर डटे रहना चाहिये।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं । इसमें अपना क्या वश है । कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता । वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं । दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे । वैद्य बारम्बार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे । परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है । न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है । फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये । और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनकी इच्छानुसार लगे रहना चाहिये ।



ईश्वर और परलोक



ईश्वर, माया, जीव, सृष्टि, कर्म, मोक्ष और परलोक आदिके विषयमें कतिपय मित्रोंके प्रश्न हैं। प्रश्न बड़े गहन और तात्त्विक हैं। इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो परमेश्वर ही जानते हैं तथा वे महान् पुरुष भी जानते हैं जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझ जैसे व्यक्तिके लिये तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना महान् ही कठिन है तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार मैं अपने भावोंको प्रकट करता हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

प्र०—ईश्वर है या नहीं?

उ०—ईश्वर निश्चय ही है।

प्र०—ईश्वरके होनेमें क्या प्रमाण है?

उ०—ईश्वर स्वतः प्रमाण है। इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि भी उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। तुम्हारा प्रश्न भी ईश्वरको सिद्ध करता है क्योंकि मिथ्या वस्तुके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं बनता जैसे 'वन्ध्यापुत्र है या नहीं'—यह प्रश्न नहीं बनता।

प्र०—सन्दिग्धतामें भी प्रश्न बन सकता है। और मुझे शंका है इसलिये ईश्वरके विषयमें आप प्रमाण बतावें?

उ०—यद्यपि ईश्वरकी सिद्धिसे ही हम सबकी सिद्धि है इसलिये प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेका प्रयत्न लड़कपन ही है तथापि सन्दिग्ध मनुष्योंकी शंका-निवृत्तिके लिये श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सत्ताको स्थल-स्थलपर घोषित कर रहे हैं। ईश्वरको जाननेके लिये ही उन सबकी व्युत्पत्ति है। यथा—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'

(गीता १५। १५)

'ईशावास्यमिद्ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'

(यजुर्वेद ४०। १)

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग० १। २३)

'आत्मा द्विविध आत्मा परमात्मा च'

(तर्कसंग्रह)

प्रमाणोंका विशेष विस्तार 'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में देखना चाहिये।

प्र०—क्या आप युक्तियोंद्वारा भी ईश्वर-सिद्धि कर सकते हैं?

उ०—यद्यपि जिस ईश्वरसे सब युक्तियोंकी सिद्धि होती है, उस ईश्वरको युक्तियोंद्वारा सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है तथापि संशययुक्त एवं नास्तिकोंको समझानेके लिये विभिन्न सज्जनोंने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क और उसके परिशिष्टाङ्कमें बहुत-सी युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी,

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाना प्रकारकी योनियोंके यन्त्रोंकी भिन्न-भिन्न अद्भुत रचना और नियमित सञ्चालन-क्रियाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि बिना कर्त्ताके उत्पत्ति और बिना सञ्चालकके नियमित सञ्चालन होना असम्भव है। जो इनकी उत्पत्ति और सञ्चालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। जीवोंके सुख, दुःख, जाति, आयु, स्वभावकी भिन्नताका गुण-कर्मानुसार यथायोग्य विभाग करना ज्ञानस्वरूप ईश्वरके बिना जड़ प्रकृतिसे होना सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना एवं विभाग किसी परम चेतन कर्त्ताके बिना होना सम्भव नहीं है।

प्र०—ईश्वरका स्वरूप कैसा है?

उ०—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणसम्पन्न, निर्विकार, अनन्त, नित्य, विज्ञान-आनन्दघन है।

प्र०—ईश्वर सगुण है या निर्गुण?

उ०—वह चिन्मय परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। यह त्रिगुणमय सम्पूर्ण संसार उस परमात्माके किसी एक अंशमें है, जिस अंशमें यह संसार है उस अंशका नाम सगुण है, और संसारसे रहित अनन्त असीम जो नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्माका स्वरूप है उसका नाम निर्गुण है। सगुण और निर्गुण समग्रको ही ईश्वर कहा गया है।

प्र०—वह सगुण ईश्वर निराकार है या साकार?

उ०—साकार भी है और निराकार भी । जैसे निराकाररूपसे व्यापक अग्नि संघर्षण आदि साधनोंद्वारा साधकके सम्मुख प्रकट हो जाता है वैसे ही वह सर्वान्तर्यामी दयालु परमात्मा निराकाररूपसे चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें व्यापक रहता हुआ ही धर्मके स्थापन और जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी भावनाके अनुसार भी श्रद्धा, भक्ति,प्रेम आदि साधनोंद्वारा साकाररूपसे समय-समयपर प्रकट होता है । जहाँ साकाररूपसे भगवान् प्रकट हुए हों वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वे इतने ही हैं, निर्गुण और सगुणरूपमें सब जगह स्थित रहता हुआ ही अर्थात् सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न समग्र ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्वरूपमें प्रकट होता है । वह सगुण परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशकालमें सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे विराजमान है ।

प्र०—माया किसे कहते हैं ?

उ०—ईश्वरकी शक्तिका नाम माया है जिसको प्रकृति भी कहते हैं ।

प्र०—प्रकृतिका क्या स्वरूप है ?

उ०— जो अनादि हो (प्राकृत हो), जिसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं हुई हो और जो अन्य पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण हो, उसको प्रकृति कहते हैं ।

प्र०—यह माया स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

उ०—परतन्त्र है ।

प्र०—किसके परतन्त्र है ?

उ०—ईश्वरके ।

प्र०—यह माया अनादि-अनन्त है या अनादि-सान्त है ?

उ०—अनादि-सान्त है ।

प्र०—जो वस्तु अनादि हो वह तो अनन्त ही होनी चाहिये ?

उ०—यह कोई नियम नहीं है ।

प्र०—ऐसा कोई दृष्टान्त बतलाइये जो अनादि होकर सान्त हो ?

उ०—सूर्य-चन्द्रादि सभी दृश्य वस्तुओंका अज्ञान अर्थात् उनका न जाननापन अनादि है, किन्तु मनुष्य जिस समय जिस वस्तुको यथार्थ जान जाता है उसी समय उस वस्तु-विषयका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह माया भी अज्ञानकी तरह अनादि-सान्त है ।

प्र०—यह माया सत् है या असत् ?

उ०—सत् भी है और असत् भी । अनादि होनेसे सत् है और सान्त होनेसे असत् है । वास्तवमें इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा सान्त हो जानेके कारण सत् नहीं कहा जा सकता और सदासे इसकी प्रतीति होती चली आयी है इसलिये असत् भी नहीं कह सकते । इसीलिये मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है ।

प्र०—माया जड है या चेतन ?

उ०—जड है, क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है वह जड ही होती है।

प्र०—मायाका स्वरूप क्या है ?

उ०—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है वह सब मायाका कार्य होनेके कारण मायाका स्वरूप है।

प्र०—माया कितने प्रकारकी है ?

उ०—दो प्रकारकी है। विद्या और अविद्या।

प्र०—विद्या किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं और गुण-कर्मोंके अनुसार यथायोग्य ऊँच-नीच योनियोंका विभाग करते हैं तथा साकाररूपसे प्रकट होकर जिस विद्याके द्वारा धर्मकी स्थापना करके जीवोंका उद्धार करते हैं।

प्र०—अविद्या किसे कहते हैं ?

उ०—अज्ञानको कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूप और कर्तव्यको भूले हुए हैं।

प्र०—जीवका स्वरूप क्या है ?

उ०—जीव नित्य आनन्द चेतन (द्रष्टा) और ईश्वरका अंश है। प्रकृति और उसके कार्यसे भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी प्रकृतिके सम्बन्धसे कर्ता और भोक्ता भी है (देखिये गीता अ० १३ श्लोक २०-२१)।

प्र०—जीव ईश्वरका किस प्रकारका अंश है ?

उ०—वास्तवमें तो इसके सदृश संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं है । यदि सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह जीवको ईश्वरका अंश बताया जाय तो वह बताना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि सूर्यमण्डल जड है और उसका प्रतिबिम्ब वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है परन्तु जीवात्मा तो वस्तुतः नित्य और चेतन है । यदि घटाकाश और महाकाशका उदाहरण दिया जाय तो वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश भी जड है और ईश्वर चेतन है । यदि स्वप्नकी सृष्टिके जीवोंका उदाहरण दिया जाय तो वह भी पूर्ण समीचीनरूपसे नहीं, क्योंकि स्वप्न-सृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्न-द्रष्टा पुरुषके मोहसे हुई है और वह पुरुष उस मोहके अधीन है परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त है । ऊपर बताये हुए सब उदाहरणोंकी अपेक्षा तो योगीकी सृष्टिका उदाहरण सर्वोत्तम है, क्योंकि योगी अपनी योग-शक्तिसे अपनी सृष्टिकी रचना कर सकता है और उसकी सृष्टिमें रचित जीव सब उसके अंश एवं अधीन भी होते हैं, इसी प्रकार जीवको ईश्वरका अंश समझना चाहिये ।

प्र०—सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

उ०—शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है ।

प्र०—शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका वर्णन है ।

उ०—विचार करनेपर करीब-करीब सबका परिणाम एक-सा ही निकलता है ।

प्र०—महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, संक्षेपसे व्याख्या कीजिये।

उ०—महासर्गके आदिके समय सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मामें सृष्टिके रचनेके लिये स्वाभाविक ऐसी स्फुरणा होती है कि 'मैं एक बहुत रूपोंमें होऊँ' तब उसकी शक्तिरूप प्रकृतिमें क्षोभ होता है अर्थात् सत्, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिकता हो जाती है जिससे महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। उस महत्तत्त्वसे समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे मन और पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन महाभूतों-को योग और सांख्य आदि शास्त्रोंमें तन्मात्राओंके नामसे कहा है। वैशेषिक और न्यायशास्त्र इन्हींको परमाणु मानते हैं। उपनिषदोंमें इन्हींको अर्थके नामसे भी कहा है और इन्द्रियोंके कारणरूप होनेसे इन्द्रियोंसे परे बतलाया है। गीतामें इन पाँच सूक्ष्म महाभूतोंको मन, बुद्धि और अहंकार-के सहित अपरा-प्रकृतिके नामसे कहा है। मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इन आठ पदार्थोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इनको भी प्रकृति कहा जाता है। सांख्य और योगशास्त्र मनको प्रकृति नहीं मानते।

प्र०—सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाइये?

उ०—समष्टि अहंकारसे सूक्ष्म आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवीकी तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं।

प्र०—इन आठ पदार्थोंकी उत्पत्तिके बाद सृष्टिकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

उ०—आकाशादि सूक्ष्म महाभूतोंसे अर्थात् तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण—क्रमशः इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई । तदनन्तर उन्हीं पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा—क्रमशः इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई । ऊपर बताये हुए अठारह तत्त्वोंमें अहंकारको बुद्धिके अन्तर्गत मानकर इन सतरह तत्त्वोंके समुदायको समष्टि-सूक्ष्म शरीर कहते हैं । इसका जो अधिष्ठाता है उसीको हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा एवं ब्रह्मा कहते हैं । उसी हिरण्यगर्भके द्वारा उसके समष्टि-अव्यक्त-शरीरसे जीवोंके गुण और कर्मानुसार सम्पूर्ण स्थूल लोकोंकी एवं स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

(गीता ८ । १८-१९)

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेश-कालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तनामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके

प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है।'

कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म भूतोंको इन्द्रियोंके अन्तर्गत मानकर पञ्चप्राणोंको सूक्ष्म शरीरके साथ और सम्मिलित करते हैं किन्तु वायुके अन्तर्गत भी पञ्चप्राणोंको मान लिया जा सकता है।

प्र०—कर्म कितने प्रकारके होते हैं?

उ०—तीन प्रकारके होते हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

प्र०—इन तीनोंका स्वरूप बतलाइये?

उ०—(१) अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके किये हुए सुकृत-दुष्कृत-रूप कर्मोंके संस्कारसमूह, जो अन्तःकरणमें संगृहीत हैं उन्हें सञ्चित कहते हैं।

(२) पाप-पुण्यरूप सञ्चितका कुछ अंश जो किसी एक जन्ममें सुख-दुःखरूप फल भुगतानेके लिये सम्मुख हुआ है उसका नाम प्रारब्ध-कर्म है।

(३) अपनी इच्छासे जो शुभाशुभ नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। इन तीनों कर्मोंका विशेष विस्तार इसी पुस्तकके प्रथम भागके 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

प्र०—मोक्ष किसे कहते हैं?

उ०—सम्पूर्ण दुःखों और क्लेशोंसे* एवं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूटकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित होनेका नाम मोक्ष है।

प्र०—मुक्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं?

उ०—नहीं।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४।२)

'हे अर्जुन! वे पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय-कालमें भी व्याकुल नहीं होते।' भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८।१६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।

(छान्दोग्य उप० ४।१५।१)

'वह मुक्त पुरुष पुनः वापिस नहीं आता, पुनः वापिस नहीं आता।'

प्र०—नवीन जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं?

उ०—नहीं। क्योंकि बिना हेतु जीवोंकी नवीन सृष्टि होना युक्तिसंगत नहीं।

---

* 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।' (योगसूत्र २।३) अर्थात् अज्ञान, अहंता (चिद्जडग्रन्थि), राग, द्वेष और मरणभय ये पाँच क्लेश हैं।

प्र०—इस तरह माननेसे फिर जीवोंकी संख्या कम हो जायगी ।

उ०—हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—इस न्यायसे तो सभीकी मुक्ति सम्भव है ।

उ०—ठीक है, किन्तु मोक्षका अधिकारी केवल मनुष्य ही है। मनुष्योंमें भी लाखों-करोड़ोंमें किसी एककी ही मुक्ति होती है । भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता ७ । ३)

'हे अर्जुन ! हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है ।' इसलिये सभीका मुक्त हो जाना असम्भव-सा है।

प्र०—असम्भव-सा होनेपर भी न्यायसे किसी-न-किसी दिन सबकी मुक्ति हो तो सकती है, क्योंकि इसमें कोई रुकावट नहीं है ?

उ०—रुकावटकी क्या आवश्यकता है ? तथा न्याय भी नहीं है, क्योंकि सभीका समान अधिकार है ।

प्र०—तब तो एक दिन सृष्टिकी समाप्ति भी हो सकती है ?

उ०—ऐसा होना असम्भव-सा है, क्योंकि जीव असंख्य हैं, तथापि सब जीवोंका मोक्ष हो भी जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—यदि ऐसा न्याय होता तो अबसे पहले ही सृष्टि समाप्त हो जानी चाहिये थी ?

उ०—नहीं भी हुई तो सिद्धान्तमें क्या हानि है ?

प्र०—इस सिद्धान्तसे सृष्टिकी समाप्ति हो तो सकती है ?

उ०—ठीक है, यदि हो जाय तो बहुत ही उत्तम है। इसीलिये महान् पुरुष सबके कल्याणके लिये कोशिश करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

'सभी सुखी तथा सभी नीरोग होवें, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी जीव दुःखभागी न बनें अर्थात् दुःखी न हों।'

प्र०—यदि मुक्तिको प्राप्त जीव वापिस आता है यह बात मान ली जाय तो क्या हानि है ?

उ०—इस प्रकार माननेवालेकी नित्यमुक्ति नहीं होती क्योंकि वापिस आनेकी भावना रहनेसे साधक सदाके लिये मुक्त नहीं हो सकता।

प्र०—मुक्ति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—दो प्रकारकी। एक सद्योमुक्ति, दूसरी क्रममुक्ति। विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप हो जाना सद्योमुक्ति है और अर्चि-मार्गके द्वारा परमात्माके धामविशेषमें जाना क्रममुक्ति है।

प्र०—क्रममुक्ति कितने प्रकारकी है ?

उ०—चार प्रकारकी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

(क) नित्यधाममें जाकर वास करना सालोक्यमुक्ति है।

(ख) सगुण भगवान्के समीप रहना सामीप्यमुक्ति है।

(ग) भगवान्के सदृश स्वरूप धारणकर रहना सारूप्य-मुक्ति है।

(घ) सगुण भगवान्‌में लय हो जाना सायुज्यमुक्ति है ।

प्र०—मुक्तिका उपाय क्या है ?

उ०—तत्त्वज्ञान ।

प्र०—तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं ?

उ०—परमात्माको यथार्थ रूपसे जैसा है वैसा ही जाननेका नाम तत्त्वज्ञान है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(१८ । ५५)

'हे अर्जुन ! उस परा-भक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है ।'

प्र०—तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनेक साधन शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनमें सच्चा मार्ग कौन-सा है ?

उ०—सभी सच्चे हैं ।

प्र०—प्रधानतया कितने मार्ग हैं ?

उ०—तीन उपाय प्रधान हैं । भक्तियोग, सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग । यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

(गीता १३ । २४)

'हे अर्जुन ! परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म

बुद्धिसे ध्यानयोगके द्वारा यानी भक्तियोगके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।'

प्र०—भक्तियोग किसे कहते हैं ?

उ०—परमेश्वरके स्वरूपको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका नाम भक्तियोग है।

प्र०—वह चिन्तन विज्ञान-आनन्दघन निर्गुण ब्रह्मका करना चाहिये या सगुणका ?

उ०—वास्तवमें तो निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन हो ही नहीं सकता, सगुणका ही होता है, किन्तु निर्गुणकी भावनासे उस विज्ञान-आनन्दघन निराकार ब्रह्मका जो चिन्तन किया जाता है वह निर्गुणका ही समझा जाता है।

प्र०—सगुण ब्रह्मका ध्यान साकारका करना चाहिये या निराकारका ?

उ०—साधककी इच्छापर निर्भर है। निराकारका करे या साकारका करे, किन्तु निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर करना ही शीघ्र लाभदायक होता है।

प्र०—सांख्ययोग किसका नाम है ?

उ०—मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्त्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमानन्दमें एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम सांख्ययोग है।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका क्या स्वरूप है ?

उ०—फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। यह दो प्रकारका होता है, एक भक्तिप्रधान, दूसरा कर्मप्रधान।

प्र०—भक्तिप्रधानका क्या लक्षण है ?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

प्र०—कर्मप्रधानका क्या स्वरूप है ?

उ०—कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है किन्तु वह सामान्यभावसे रहती है। फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि-

में समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर ! यह समत्वभाव ही योग-नामसे कहा जाता है ।'

प्र०—परलोक है या नहीं ?

उ०—अवश्य है ।

प्र०—क्या प्रमाण है ?

उ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण स्थल-स्थलमें घोषित कर रहे हैं ।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठोपनिषद् १ । २ । ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती । यह लोक ही है परलोक नहीं है इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गीता १४ । १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं' इत्यादि शास्त्रोंमें कर्मानुसार परलोककी

प्राप्तिके जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे तथा यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये शास्त्रोंके विशेष प्रमाणोंका उल्लेख नहीं किया गया।

प्र०—युक्तिप्रमाण दीजिये ?

उ०—प्राणियोंके गुण, कर्म, स्वभाव, जाति, आयु, सुख, दुःखादि भोगोंकी परस्पर भिन्नता देखनेसे भूत और भविष्यत्-जन्मकी सिद्धि होती है।

(क) बालक जन्मते ही रोता है, जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है, जब माता मुखमें स्तन देती है तब दूधको खींचता है और भयसे काँपता हुआ भी नजर आता है इत्यादि— उस बालकके आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने उपर्युक्त शिक्षाएँ प्राप्त की नहीं। पूर्व-जन्मके अभ्याससे ही यह सब बातें उसमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं।

(ख) एक ही कालमें कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई कीट, कोई पतंग इत्यादि योनियोंमें जन्म लेते हैं, उनमें भी गुण, कर्म, स्वभाव, आयु, सुख-दुःखादि भोग समान नहीं देखे जाते।

(ग) एक देश और एक जातिमें पैदा हुए बालकोंमें भी स्वभाव, आचरण, आयु, सुख-दुःखादि भोग एकके दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, जैसे एक माताके एक साथ पैदा हुए दो बालकोंमें।

—इत्यादि युक्तियोंसे पूर्व-जन्मकी सिद्धि होती है और पूर्व-जन्मके लिये यह जन्म परलोक है, इससे परलोककी सिद्धि हो चुकी। जबतक इस पुरुषको ज्ञान न होगा तबतक इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार भावी जन्म होते रहेंगे।

प्र०—परलोक न माननेसे क्या हानि है ?

उ०—पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृङ्खलता आ जायगी और उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह महान् दुखी बन जाता है।

प्र०—परलोकको माननेसे लाभ क्या है ?

उ०—परलोक सत्य है और सत्य बातको सत्य माननेमें ही कल्याण है, क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता (गीता २। २०) इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब वास्तवमें इस प्रकारका निश्चय हो जायगा तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वर-की उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा, इसलिये परलोकको अवश्यमेव मानना चाहिये।



ईश्वर-तत्त्व

प्र०—सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे जिस ईश्वरका सङ्केत किया जाता है वह ईश्वर किसका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी आदि है ? जिसका ज्ञाता ईश आदि है, उसका नामरूप क्या है ? वह उससे भिन्न है या नहीं ?

उ०—विज्ञानानन्द ब्रह्म अनादि और अनन्त है, उसके किसी एक अंशमें त्रिगुणमयी मायासहित जड-चेतनमय यह समस्त संसार है। ब्रह्मके जिस अंशमें यह संसार है, उस अंशको सगुण ब्रह्म और जिस अंशमें संसार नहीं है उसको निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। उस सगुण ब्रह्मको ही सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे सङ्केत किया जाता है। वही इस मायासहित जड-चेतन सम्पूर्ण संसारका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी है; उसीके सकाशसे मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है और सम्पूर्ण संसार प्रकाशित होता है। वह अनन्त है, अपार है, अनादि है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, सत्य और आनन्दमय है।

माया जड और विकारी है, मायाको ही प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति परमेश्वरकी शक्ति है और उसीके अधीन है। इसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। जिसके द्वारा सत्-असत् समस्त वस्तुएँ यथार्थरूपसे जाननेमें आती

हैं उस ज्ञानशक्तिका नाम विद्या है; और जिसके द्वारा आवृत हुए सारे जीव मोहित हो रहे हैं उसका नाम अविद्या है। इस अविद्याका नाश उपर्युक्त विद्यासे ही होता है। चौबीस तत्त्वोंमें विभक्त हुआ जड संसार प्रकृतिका ही विस्तार या कार्य (विकार) है। मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है; फिर अहंकारसे मन और पञ्चतन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच स्थूल महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है।* इस प्रकार मूलप्रकृतिसहित चौबीस तत्त्व माने गये हैं।

मायाके द्वारा आवृत हुए व्यष्टि चेतनको जीव कहते हैं। ये जीव मायाके सम्बन्धसे नाना और असंख्य हैं। परमेश्वरका अंश होनेपर भी मायाके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण इसकी जीव-संज्ञा मानी गयी है। और मायाका यह सम्बन्ध अनादि एवं सान्त है। उस मायाके अविद्या अंश यानी अज्ञानसे जीव मोहित है। विद्याके द्वारा अविद्याका नाश होनेसे जीव परमात्माको प्राप्त हो जाता है और जैसे ईंधनको जलाकर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है वैसे ही अविद्या या अज्ञानका नाश करके विद्या या ज्ञान भी शान्त हो जाता है। तब मायासे रहित जीव केवल-अवस्था-

---

* श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्रा—ये पञ्चतन्मात्राएँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पञ्च महाभूत हैं।

को अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मामें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।

जीव-समुदायके भी दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि चलनेवाले जीवोंको जंगम एवं वृक्ष, लता, पर्वत आदि स्थिर रहनेवाले जीवोंको स्थावर कहा गया है।

इस जड-चेतनमय संसारसे परमेश्वर भिन्न भी है और अभिन्न भी। जैसे पुरुषसे स्वप्नकी सृष्टि है और आकाशसे वायु। वायुकी उत्पत्ति आकाशसे होती है और उसका आधार भी आकाश है। आकाशसे उत्पन्न होनेके कारण वायु उससे अभिन्न है; और आकाशमें आकाशसे अलग होकर रहती हुई प्रतीत होनेसे उससे भिन्न भी है। इसी प्रकार जिस पुरुषको स्वप्न आता है, उसीसे स्वप्न-सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और वही उस स्वप्नके संसारका आधार है। पुरुषसे ही उत्पन्न होनेसे स्वप्न उससे अभिन्न है और स्वप्नकालमें पृथक् प्रतीत होनेके कारण भिन्न भी है। इसी तरह सगुण ब्रह्म परमेश्वर अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण होते हुए ही भिन्न और अभिन्न है तथा वही ईश, ज्ञाता, व्यापक और अन्तर्यामी है। जीवको स्वप्न-सृष्टिकी प्रतीति मोहसे होती है और ईश्वरको सृष्टिकी प्रतीति अपनी योगशक्ति या लीलासे होती है। ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र है।

प्र०—आवरण या बन्धन है या नहीं? यदि है तो किसको है? और वह स्वाभाविक है या आगन्तुक? यदि स्वाभाविक है

तो उससे मुक्ति कैसी और आगन्तुक है तो फिर भी हो सकता है ? आवरण किसको कहते हैं और वह आवरण किसको है ?

उ०—आवरण या बन्धन है भी और नहीं भी है। जिसको संसार भिन्नरूपसे प्रतीत होता है उसको बन्धन है और जिसको नहीं होता उसको नहीं है। यह बन्धन न स्वाभाविक है और न आगन्तुक, परन्तु अनादि-सान्त है। आवरण या बन्धन अज्ञान या अविद्याको कहते हैं। यह आवरण मायामोहित जीवको है। इसलिये इस बन्धनसे छूटनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। बन्धनसे छूटनेका उपाय है तत्त्वज्ञान, जो सांख्ययोग, भक्तियोग, निष्कामकर्मयोग आदि साधनोंसे प्राप्त होता है।

प्र०—पूजा कौन करता है और किसकी करता है ? ब्रह्म देश, काल, निमित्तके परे है या नहीं ? यदि नहीं तो वह बद्ध है, और यदि हाँ तो वह असाध्य है। वह पूजा कैसी और उससे क्या लाभ ?

उ०—पूजा जीव करता है और परमेश्वरकी करता है। ब्रह्म देश, काल, निमित्तसे परे भी है और अन्दर भी है। क्योंकि देश, काल, निमित्त आदि सब उस ब्रह्मके किसी अंशमें हैं और उसीके अधीन हैं, अतएव वह उनसे बद्ध नहीं है। उसकी पूजा आदि अवश्य करनी चाहिये। पूजाके दो प्रकार हैं—

(क) सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सम्पूर्ण चराचर जीवों-का आत्मा है। इसलिये सम्पूर्ण चराचर जीवोंको

परमेश्वरका स्वरूप समझ, फलासक्तिको त्यागकर, निष्कामप्रेमभावसे, अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार, कर्मोंद्वारा उनका सेवा-सत्कार करना उस सर्वव्यापी निराकार ब्रह्मकी पूजा है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

(ख) अपने-अपने भाव और रुचिके अनुसार उसी सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी, शिव, विष्णु आदि किसी भी एककी मानसिक या पार्थिव-प्रतिमाको निमित्त बनाकर, उस परमेश्वरके प्रभावको समझते हुए, श्रद्धा और प्रेमभावसे, शास्त्र-विधिके अनुसार, पत्र-पुष्पादिसे उसकी अर्चना करना साकार परमेश्वरकी पूजा है। (गीता९।२६)

इस प्रकार पूजा करनेसे मनुष्य इस दुःखरूप संसार-बन्धनसे सदाके लिये छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।



ईश्वर-महिमा



(१) ईश्वर कल्पना नहीं ध्रुव सत्य है

कुछ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेखचिल्लीके घरकी कल्पनाकी भाँति मनमोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत् वस्तुमें भूलसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है! इससे सत् वस्तुमें कोई कलंक

नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्के लक्षण करते हुए गीतामें इस प्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

ऐसी सत् वस्तु एक विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अल्लाह, खुदा, गाड आदि अनेक नामोंसे संसारमें माना गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, ध्रुव सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत् पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरा जड । उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं । चेतनके दो भेद हैं । एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा । उनमें जीवात्मा अंश है परमात्मा अंशी है । जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है । यह चौबीस तत्त्वोंवाला संसार जड है ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

(गीता १३ । ५)

'पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दश इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं ।'

जो जड है वह दृश्य है । जो चेतन है वह द्रष्टा है । जडको ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं । वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है । भगवान्‌ने कहा है—

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

(गीता ७ । ५)

'जीवस्वरूप चेतन प्रकृतिके द्वारा यह सारा संसार धारण हो रहा है ।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १० । ४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है,

मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।'

जड अल्प है, चेतन अनन्त है। जड उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जडमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको क्षणभंगुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता तो भी मूढ़-बुद्धिवालोंको भ्रान्तिके कारण जडके सम्बन्धसे चेतनमें परिवर्तन भासित होता है, परन्तु विचार करनेपर नहीं ठहरता, जैसे निर्लेप आकाशमें अपने नेत्रोंके दोषसे मोरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरोंका होना विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, ध्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। ध्रुव, प्रह्लाद-सरीखे भक्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिल्कुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—खम्भमेंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्‌का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे ध्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना—ध्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवान्‌के शंखके स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इस प्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें अनेकों मिलती हैं। ये सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित

समझना अत्यन्त भूल है। बिना हुई घटनाओंका इस प्रकार प्रचार होना, तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित होना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर अविश्वास करना और यह कहना कि दुनियाको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कलंक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कलंक लगानेवाले अज्ञानियोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं ठहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? जब कोई पुरुष लाठी लेकर कुत्तेको मारने जाता है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस लाठीको देखकर चिल्लाता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है। परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिल्ला उठता है। उसके चिल्लानेका मतलब यही है कि मेरे चिल्लानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो

जायगी । क्योंकि मेरी चिल्लाहटको सुनकर रक्षा करनेवाली शक्ति मेरी रक्षा करेगी । इस प्रकार चिल्लानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है ।

जिस दयामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये करुणाभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस दयामयी शक्तिसे दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं ।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर करुणापूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं । वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्तिशाली चेतन दयासिन्धु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये ।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है । बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है । यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती ।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान् शक्ति है । प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन

माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल-कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधार-के नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल-कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड-पदार्थ-में नियमितरूपसे यथायोग्य विभाग और सञ्चालन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह शास्त्रोक्त साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे भी चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। वर्तमानमें इण्डियाके बादशाह विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी जाना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह विलायतमें हैं, क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता

है और राज्यकी व्यवस्था भी उनकी आज्ञानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजासे तो मिलना चाहनेपर मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्‌की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेसे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ भी हो जाता है परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति।' ईश्वरके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।'

इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अल्पशक्तिवाले होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अञ्जन नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते

हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि । सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण नहीं प्रतीत होते। जैसे बहिरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम बुद्धिके द्वारा धर्मात्मा समझते हैं, फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं। एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि ये दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेटके लिये कथा नहीं बाँचते, यह बात ज़रूर है कि वे मान-बड़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेट और पूजा तो इनको श्रोताओंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है,

किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थ-रूपमें अनुभव करता है। वही असली अनुभव है। उसमें भूल नहीं हो सकता। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होने-पर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकाररूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५। १०-११)

'शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२) ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं या उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड या पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्णरूपेण रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ भी रह सकता है, अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूल भी हो सकती है परन्तु श्रीभगवान्में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, शंकारहित, ज्ञानपूर्ण और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चलनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्के कानूनका स्वरूप क्या है ? विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति।

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार बतलाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यज्ञ, दान, सेवा, पूजा और महापुरुषोंकी आज्ञा-पालन आदि सदाचार हैं।

दया, पवित्रता, शम, दम, समता, क्षमा, धैर्य, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, मादकवस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, द्यूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं।

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मत्सरता, आलस्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है, तथा सद्गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये बीज-वृक्षकी ज्यों अन्योन्याश्रित हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका सेवन ही उस कानूनका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संक्षेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परिग्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञापालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमादि समस्त सद्गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके वश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसार-के जीवोंका अहित करता है। इन दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है, सबके सुख-शान्तिका नाश हो जाता है। इसी अधःपतनसे बचानेके लिये भगवान्‌ने इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवश भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है उसका स्वरूप यह है—

प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्नलिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकता। तथा आरूढ़ हुआ गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर क्षयको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है ।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है ।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसासे संसारकी हानि और कर्त्ताको नरककी प्राप्ति होती है ।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना, या उन्हें घटा देना एक प्रकारसे वर्तमान और भावी दुःखोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है । जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दीपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगोंके मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-भोगसे वञ्चित करके उनपर महान् दया करते हैं ।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा उसकी इच्छाके विरुद्ध इस प्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःखरूप फल मिलता है । इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही स्त्री-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें स्नेह-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे चित्तकी वृत्ति

उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुखी हुआ मनुष्य करुण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्‌से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिसके द्वारा वे दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं, साथ ही भगवान्‌की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गढ़ेमें डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बड़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बड़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बड़ाईरूपी भारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीरयात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दुखी और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमानको त्यागकर—अकर्मण्यता और अहंकारको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम और उद्यम करनेको

तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, झूठा बड़प्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इस प्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रत्नोंके गहरे समुद्रमें डुबकी लगानेसे एक-से-एक बढ़कर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचारद्वारा श्रीभगवान्‌के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डुबकी लगानेपर इस लोक और परलोकके हितकारक अनेक अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद् परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दुखियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्रलेप हो जाते हैं

कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी, भोगे बिना, प्रायः नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धक-रूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विलक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

१—यह अपने परम प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२—प्रतिकूल पदार्थ जो जगत्की दृष्टिमें दुःख कहलाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके ऋणानुबन्धसे मुक्ति मिलती है।

३—व्याधि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वर्ण-सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४—भविष्यमें निषिद्ध पाप-कर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्धका नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वर्तमान-में पाप नहीं हुए और सञ्चित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे भविष्यके पाप मिट गये, इस प्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित

होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकालमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्मृति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु दयामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३) ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिस प्रकार अपने अन्दर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसार-

को रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है परन्तु ईश्वर ज्ञानस्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिभासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुतः आकाशकी अनन्तता अल्प है और वह देशकालसे परिमित है, पक्षान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देशकालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है, आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सदृश संसारमें कोई पदार्थ है ही नहीं। यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्माके एक रोममें स्थित हैं, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वको समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवत्कृपासे ही जाना जाता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
(२ । २९)

'कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है ।'

इस प्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? समझाना वाणीका विषय है । बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता । तथापि महापुरुषोंद्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है । परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है । इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है । क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्न-

निमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है, या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान्ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १० । ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणों-के साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जानने-वाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत्के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अंगोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपांगको जला दे, या किसी एक अंगको काट डाले चाहे वह कितना ही

छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अंग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अंगरूप किसी जीवके साथ क्या कभी द्वेष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है ? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अंगोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अंगको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या सच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है, क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वर-प्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं—एक जड और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे

आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड शरीर है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहते हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृतिको धारण कर रक्खा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंसे संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम क्षुद्र है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देशकालसे सीमित होने और फलकी अल्पताके कारण क्षुद्र कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वही विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर इस जड-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थ-भावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देशकालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देश-कालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो वही है जो इस जड-चेतन जगत्सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है!

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगत्के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किस प्रकारका प्रेम करना चाहिये।

चेतनके साथ प्रेम

१—मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके यथार्थ अभ्युदय और परम कल्याणके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना।

२—पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे स्वार्थरहित सहायता करना।

३—इसी प्रकार वृक्ष-लता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-व्यवहार करना।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना और आसक्ति तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य प्रयोग करना।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं, उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्यागकर लोकसंग्रहार्थ उनका यथोचितरूपसे सर्वथा त्याग करना।

जिस प्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानिकारक पदार्थोंके क्षय

और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियाँ आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सद्‌गुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोकसंग्रहके लिये करना चाहिये।

यह विश्वप्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१—ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, मनन और पठन-पाठन।

२—भगवान्‌में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका संग।

३—भगवान्‌के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन।

४—भगवान्‌की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्‌का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना।

५—संपूर्ण जीवोंको भगवान्‌का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना।

६–ईश्वरके तत्त्वको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना।

७–एकान्तमें करुणभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना।

इस प्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है। फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है। ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् यानी अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यान-योगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्वप्रेम है।



ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है, इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ ही मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य भी अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाणभूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके संग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ अंश अपने मनोविनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर क्षमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों,अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(ग) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें

दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। झूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(घ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(ङ) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(महाभारत स्वर्गारोहण अ० ६)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे और भी अनन्त लाभ हैं।

२–(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह और महादुखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। और ज्ञान बिना कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको भी न मानें तो क्या आश्चर्य है ? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है ?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३—ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूल-बुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषको भी शंका हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सब प्रमाणोंकी सिद्धि होती है उसके विषयमें प्रमाण पूछना आश्चर्य भी है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शंका करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा तो जा सकता है, परन्तु असल

बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शंका हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्ति-प्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्ति-प्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्त्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका

सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्त्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्त्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं' सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया? और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड़ है या चेतन। यदि जड़ कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, बिना सञ्चालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना

सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है' तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड़ होनेके कारण उनमें यथायोग्य फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उसके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है।

अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यही बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (४०।१)

'इस जगत्में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः' 'शास्त्रयोनित्वात्।' (१।१।२-३)

'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।'

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
(१५ । १५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(१८ । ६१)

'हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
(१३ । १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५ । १७)

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है

कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

(समाधिपाद २४-२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय) इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें सर्वज्ञताका कारण ज्ञान निरतिशय है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है क्योंकि कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।

(तैत्तिरीय ३।१)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, तथा उत्पन्न हुए प्राणी जिसके अनुग्रहसे जीते हैं, और मृत्युके पश्चात् जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता० ६ । ११)

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।'

भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

(४ । ७ । ५०-५१)

'हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।'

महाभारत—अनुशासनपर्वके १४९ वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है ।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं ।' 'जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और जो बड़े-से-बड़े श्रेष्ठ आश्रय हैं ।' 'जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं, जो मंगलोंके भी मंगलरूप हैं, जो देवताओंके परम देवता हैं और जो प्राणीमात्रके अविनाशी पिता हैं ।'

वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥
(११७ । ६, १४)

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे राघव ! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं । आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य,

अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परमधर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसल्मान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्वशक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्की शक्तिके आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इस प्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उससे होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है।



शिव-तत्त्व

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षभागे वहन्तम् ।
नागं पाशं च घण्टां प्रलयहुतवहं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि ॥*

शिव-तत्त्व बहुत ही गहन है । मुझ-सरीखे साधारण व्यक्ति-का इस तत्त्वपर कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपनके समान है । परन्तु इसी बहाने उस विज्ञानानन्दघन महेश्वरकी चर्चा हो जायगी, यह समझकर अपने मनोविनोदके लिये कुछ लिख रहा हूँ । विद्वान् महानुभाव क्षमा करें ।

---

* जो शान्तस्वरूप हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, मस्तकपर चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले हैं, जिनके पाँच मुख हैं, तीन नेत्र हैं, जो अपने दाहिने भागकी भुजाओंमें शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभय-मुद्रा धारण करते हैं तथा वामभागकी भुजाओंमें सर्प, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश धारण किये रहते हैं, उन नाना अलंकारोंसे विभूषित एवं स्फटिकमणिके समान श्वेतवर्ण भगवान् पार्वती-पतिको नमस्कार करता हूँ ।

सदाशिव



नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने। त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद्यभवबन्धविभेदिने॥

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन मिलता है। इसपर तो यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ऋषियोंके पृथक्-पृथक् मत होनेके कारण उनके वर्णनमें भेद होना सम्भव है; परन्तु पुराण तो अठारहों एक ही महर्षि वेदव्यासके रचे हुए माने जाते हैं, उनमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिके वर्णनमें विभिन्नता ही पायी जाती है। शैवपुराणोंमें शिवसे, वैष्णवपुराणोंमें विष्णु, कृष्ण या रामसे और शाक्तपुराणोंमें देवीसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। इसका क्या कारण है? एक ही पुरुषद्वारा रचित भिन्न-भिन्न पुराणोंमें एक ही खास विषयमें इतना भेद क्यों? सृष्टिके विषयमें ही नहीं, इतिहासों और कथाओंका भी पुराणोंमें कहीं-कहीं अत्यन्त भेद पाया जाता है। इसका क्या हेतु है?

इस प्रश्नपर मूल-तत्त्वकी ओर लक्ष्य रखकर गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रममें भिन्न-भिन्न श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराणोंके वर्णनमें एवं योग, सांख्य, वेदान्तादि शास्त्रोंके रचयिता ऋषियोंके कथनमें भेद रहनेपर भी वस्तुतः मूल-सिद्धान्तमें कोई खास भेद नहीं है। क्योंकि प्रायः सभी कोई नामरूप बदलकर आदिमें प्रकृति-पुरुषसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाते हैं। वर्णनमें भेद होने अथवा भेद प्रतीत होनेके निम्नलिखित कई कारण हैं—

१—मूल-तत्त्व एक होनेपर भी प्रत्येक महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता। क्योंकि वेद,

शास्त्र और पुराणोंमें भिन्न-भिन्न सर्ग और महासर्गोंका वर्णन है, इससे वर्णनमें भेद होना स्वाभाविक है।

२—महासर्ग और सर्गके आदिमें भी उत्पत्ति-क्रममें भेद रहता है। ग्रन्थोंमें कहीं महासर्गका वर्णन है तो कहीं सर्गका, इससे भी भेद हो जाता है।

३—प्रत्येक सर्गके आदिमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता, यह भी भेद होनेका एक कारण है।

४—सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके क्रमका रहस्य बहुत ही सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, इसे समझानेके लिये नाना प्रकारके रूपकोंसे उदाहरण-वाक्योंद्वारा नाम-रूप बदलकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका रहस्य बतलानेकी चेष्टा की गयी है। इस तात्पर्यको न समझनेके कारण भी एक दूसरे ग्रन्थके वर्णनमें विशेष भेद प्रतीत होता है।

ये तो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें वेदशास्त्रोंमें भेद होनेके कारण हैं। अब पुराणोंके सम्बन्धमें विचार करना है। पुराणोंकी रचना महर्षि वेदव्यासजीने की। वेदव्यासजी महाराज बड़े भारी तत्त्वदर्शी विद्वान् और सृष्टिके समस्त रहस्यको जाननेवाले महापुरुष थे। उन्होंने देखा कि वेद-शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति आदि ब्रह्मके अनेक नामोंका वर्णन होनेसे वास्तविक रहस्यको न समझकर अपनी-अपनी रुचि और बुद्धिकी विचित्रताके कारण मनुष्य इन भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले एक ही परमात्माको अनेक मानने लगे हैं और नाना मत-मतान्तरोंका विस्तार होनेसे असली

तत्त्वका लक्ष्य छूट गया है। इस अवस्थामें उन्होंने सबको एक ही परम लक्ष्यकी ओर मोड़कर सर्वोत्तम मार्गपर लानेके लिये एवं श्रुति, स्मृति आदिका रहस्य स्त्री, शूद्रादि अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको समझानेके लिये उन सबके परम हितके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना की। पुराणोंकी रचनाशैली देखनेसे प्रतीत होता है कि महर्षि वेदव्यासजीने उनमें इस प्रकारके वर्णन, उपदेश और आदेश किये हैं, जिनके प्रभावसे परमेश्वरके नाना प्रकारके नाम और रूपोंको देखकर भी मनुष्य प्रमाद, लोभ और मोहके वशीभूत हो सन्मार्गका त्याग करके मार्गान्तरमें नहीं जा सकते। वे किसी भी नामरूपसे परमेश्वरकी उपासना करते हुए ही सन्मार्गपर आरूढ़ रह सकते हैं। बुद्धि और रुचि-वैचित्र्यके कारण संसारमें विभिन्न प्रकारके देवताओंकी उपासना करनेवाले जनसमुदायको एक ही सूत्रमें बाँधकर उन्हें सन्मार्गपर लगा देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्र और वेदोक्त देवताओंको ईश्वरत्व देकर भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न भाँतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका क्रम बतलाया गया है। जीवोंपर महर्षि वेदव्यासजीकी परम कृपा है। उन्होंने सबके लिये परमधाम पहुँचनेका मार्ग सरल कर दिया। पुराणोंमें यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य भगवान्‌के जिस नाम-रूपका उपासक हो वह उसीको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, विज्ञानानन्दघन परमात्मा माने और उसीको सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर क्रिया करनेवाला समझे। उपासकके लिये ऐसा ही समझना परम लाभदायक और सर्वोत्तम है कि मेरे

उपास्यदेवसे बढ़कर और कोई है ही नहीं। सब उसीका लीला-विस्तार या विभूति है।

वास्तवमें बात भी यही है। एक निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्हींके किसी अंशमें प्रकृति है। उस प्रकृतिको ही लोग माया, शक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। वह माया बड़ी विचित्र है। उसे कोई अनादि, अनन्त कहते हैं तो कोई अनादि, सान्त मानते हैं; कोई उस ब्रह्मकी शक्तिको ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं तो कोई भिन्न बतलाते हैं; कोई सत् कहते हैं तो कोई असत् प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः मायाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, माया उससे विलक्षण है। क्योंकि उसे न असत् ही कहा जा सकता है, न सत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कह सकते कि उसीका विकृत रूप यह संसार (चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न हो) प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं कह सकते कि जड दृश्य सर्वथा परिवर्तनशील होनेसे उसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती एवं ज्ञान होनेके उत्तरकालमें उसका या उसके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव भी बतलाया गया है और ज्ञानीका भाव ही असली भाव है। इसीलिये उसको अनिर्वचनीय समझना चाहिये।

विज्ञानानन्दघन परमात्माके वेदोंमें दो स्वरूप माने गये हैं। प्रकृतिरहित ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और जिस अंशमें प्रकृति या त्रिगुणमयी माया है उस प्रकृतिसहित ब्रह्मके अंशको सगुण कहते हैं। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद माने गये हैं—एक

निराकार, दूसरा साकार । उस निराकार, सगुण ब्रह्मको ही महेश्वर, परमेश्वर आदि नामोंसे पुकारा जाता है। वही सर्वव्यापी, निराकार, सृष्टिकर्ता परमेश्वर स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों रूपोंमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार किया करते हैं। इस प्रकार पाँच रूपोंमें विभक्त-से हुए परात्पर, परब्रह्म परमात्माको ही शिवके उपासक सदाशिव, विष्णुके उपासक महाविष्णु और शक्तिके उपासक महाशक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सभीके सम्बन्धमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं। शिवके उपासक नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्मको सदाशिव, सर्वव्यापी, निराकार; सगुण ब्रह्मको महेश्वर; सृष्टिके उत्पन्न करनेवालेको ब्रह्मा, पालनकर्ताको विष्णु और संहारकर्ताको रुद्र कहते हैं और इन पाँचोंको ही शिवका रूप बतलाते हैं। भगवान् विष्णुके प्रति भगवान् महेश्वर कहते हैं—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽपि सदा हरे॥
यथा च ज्योतिषः सङ्गाज्जलादेः स्पर्शता न वै।
तथा ममागुणस्यापि संयोगाद्बन्धनं न हि॥
यथैकस्या मृदो भेदो नाम्नि पात्रे न वस्तुतः।
यथैकस्य समुद्रस्य विकारो नैव वस्तुतः॥
एवं ज्ञात्वा भवद्भ्यां च न दृश्यं भेदकारणम्।
वस्तुतः सर्वदृश्यं च शिवरूपं मतं मम॥

अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत् ॥
तथापीह मदीयं वै शिवरूपं सनातनम् ।
मूलभूतं सदा प्रोक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥

(शिव० ज्ञान० ४ । ४१, ४४, ४८—५१)

'हे विष्णो ! हे हरे !! मैं स्वभावसे निर्गुण होता हुआ भी संसारकी रचना, स्थिति एवं प्रलयके लिये रजः, सत्त्व आदि गुणोंसे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन नामोंके द्वारा तीन रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ । जिस प्रकार जलादिके संसर्गसे अर्थात् उनमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे सूर्य आदि ज्योतियोंमें उसका सम्पर्क नहीं होता उसी प्रकार मुझ निर्गुणका भी गुणोंके संयोगसे बन्धन नहीं होता । मिट्टीके नाना प्रकारके पात्रोंमें केवल नाम और आकारका ही भेद है, वास्तविक भेद नहीं है—एक मिट्टी ही है । समुद्रके भी फेन, बुदबुदे, तरङ्गादि विकार लक्षित होते हैं; वस्तुतः समुद्र एक ही है । यह समझकर आपलोगोंको भेदका कोई कारण न देखना चाहिये । वस्तुतः सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ शिवरूप ही हैं, ऐसा मेरा मत है । मैं, आप, ये ब्रह्माजी और आगे चलकर मेरी जो रुद्रमूर्ति उत्पन्न होगी—ये सब एकरूप ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है । भेद ही बन्धनका कारण है । फिर भी यहाँ मेरा यह शिवरूप नित्य, सनातन एवं सबका मूल-स्वरूप कहा गया है । यही सत्य, ज्ञान एवं अनन्तरूप गुणातीत परब्रह्म है ।'

साक्षात् महेश्वरके इन वचनोंसे उनका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं

ब्रह्म'—नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप, सर्वव्यापी, सगुण, निराकाररूप और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूप—ये पाँचों सिद्ध होते हैं। यही सदाशिव पञ्चवक्त्र हैं।

इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासक निर्गुण परात्पर ब्रह्मको महाविष्णु, सर्वव्यापी, निराकार, सगुण ब्रह्मको वासुदेव तथा सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले रूपोंको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। महर्षि पराशर भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतोऽस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्॥

(विष्णु० १। २। १—५)

'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एकरूप, सर्वविजयी, हरि, हिरण्यगर्भ, शङ्कर, वासुदेव आदि नामोंसे प्रसिद्ध संसार-तारक, विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण, एक

और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म—उभयात्मक व्यक्ताव्यक्तस्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको मेरा बारम्बार नमस्कार है। जो जगन्मय भगवान् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाशके मूल-कारण हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सर्वभूतोंके अन्दर रहनेवाले, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

यहाँ अव्यक्तसे निर्विकार, नित्य, शुद्ध परमात्माका निर्गुण स्वरूप समझना चाहिये। व्यक्तसे सगुण स्वरूप समझना चाहिये। उस सगुणके भी स्थूल और सूक्ष्म—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। यहाँ सूक्ष्मसे सर्वव्यापी भगवान् वासुदेवको समझना चाहिये, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और महेशके भी मूल-कारण हैं एवं सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म पुरुषोत्तम नामसे बतलाये गये हैं। तथा स्थूलस्वरूप यहाँ संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेशके वाचक हैं जो कि हिरण्यगर्भ, हरि और शङ्करके नामसे कहे गये हैं। इन्हीं सब वचनोंसे श्रीविष्णुभगवान्‌के उपर्युक्त पाँचों रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार भगवती महाशक्तिकी स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमयि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(मार्कण्डेय० ९१। १०)

'ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन

और विनाश करनेवाली हे सनातनी शक्ति ! हे गुणाश्रये ! हे गुण-मयी नारायणीदेवी ! तुम्हें नमस्कार हो ।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका ॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम् ।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी ॥
तेजस्स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा ।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा ॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया ।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला ॥

(ब्रह्मवै० प्रकृति० २ । ६६ । ७—११)

'तुम्हीं विश्वजननी, मूल-प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो । यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो । तुम परब्रह्म-स्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो; परमतेजःस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करनेवाली हो; तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो । तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो । तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्वमङ्गलोंका भी मङ्गल हो ।'

ऊपरके उद्धरणसे महाशक्तिका विज्ञानानन्दघनस्वरूपके साथ

ही सर्वव्यापी सगुण ब्रह्म एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाश-के लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें होना सिद्ध है।

इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें कहा गया है—

जय देवाधिदेवाय त्रिगुणाय सुमेधसे।
अव्यक्तजन्मरूपाय कारणाय महात्मने॥
एतत्त्रिभावभावाय उत्पत्तिस्थितिकारक।
रजोगुणगुणाविष्ट सृजसीदं चराचरम्॥
सत्त्वपाल महाभाग तमः संहरसेऽखिलम्।

× × × ×

(देवीपुराण ८३। १३—१६)

'आपकी जय हो। उत्तम बुद्धिवाले, अव्यक्त-व्यक्तरूप, त्रिगुणमय, सबके कारण, विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारकारक ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले महात्मा देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग! आप रजोगुण-से आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

उपर्युक्त वचनोंसे ब्रह्माजीके भी परात्पर ब्रह्मसहित पाँचों रूपोंका होना सिद्ध होता है। अव्यक्तसे तो परात्पर परब्रह्मस्वरूप एवं कारणसे सर्वव्यापी, निराकार सगुणरूप तथा उत्पत्ति, पालन और संहारकारक होनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप होना सिद्ध होता है।

इसी तरह भगवान् श्रीरामके प्रति भगवान् शिवके वाक्य हैं—

एकस्त्वं पुरुषः साक्षात् प्रकृतेः पर ईर्यसे।
यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥

(पद्म० पाता० ४६। ६—८)

'आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् अद्वितीय पुरुष कहे जाते हैं, जो अपनी अंशकलाके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपसे विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं। आप अरूप होते हुए भी अखिल विश्वके परम कारण हैं। आप एक होते हुए भी माया-संवलित होकर त्रिविध रूप धारण करते हैं। संसारकी सृष्टिके समय आप ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं, पालनके समय स्वप्रभामय विष्णुरूपसे व्यक्त होते हैं और प्रलयके समय मुझ शर्व (रुद्र) का रूप धारण कर लेते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी भगवान् शङ्करने पार्वतीजीसे भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥
जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जल हिम-उपल बिलग नहिं जैसे॥
राम सच्चिदानंद दिनेशा। नहिं तहँ मोहनिशा-लवलेशा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेश पुराना॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेका विविध ग्रन्थोंमें उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा है कि एक महा-सर्गके आदिमें भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य अङ्गोंसे भगवान् नारायण और भगवान् शिव तथा अन्यान्य सब देवी-देवता प्रादुर्भूत हुए। वहाँ श्रीशिवजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

विश्वं विश्वेश्वरेशं च विश्वेशं विश्वकारणम्।
विश्वाधारं च विश्वस्तं विश्वकारणकारणम्॥
विश्वरक्षाकारणं च विश्वघ्नं विश्वजं परम्।
फलबीजं फलाधारं फलं च तत्फलप्रदम्॥

(ब्रह्मवै० १। ३। २५-२६)

'आप विश्वरूप हैं, विश्वके स्वामी हैं, विश्वके स्वामियोंके भी स्वामी हैं, विश्वके कारणके भी कारण हैं, विश्वके आधार हैं, विश्वस्त हैं, विश्वरक्षक हैं, विश्वका संहार करनेवाले हैं और नाना रूपोंसे विश्वमें आविर्भूत होते हैं। आप फलोंके बीज हैं, फलोंके आधार हैं, फलस्वरूप हैं और फलदाता हैं।'

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी अपने लिये श्रीमुखसे कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥
(९।१८-१९)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(७।७)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(१०।३)

'हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ; अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख—यह सब मैं ही हूँ तथा प्राप्त होनेयोग्य, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, निधान* और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और बरसाता हूँ एवं हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'हे धनंजय ! मेरेसे सिवा किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा

* प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं, उसका नाम 'निधान' है।

हुआ है। जो मुझको अजन्मा (वास्तवमें जन्मरहित) अनादि* तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपरके इन अवतरणोंसे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण तत्त्वतः एक ही हैं। इस विवेचनपर दृष्टि डालकर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी उपासक एक सत्य, विज्ञानानन्दघन परमात्माको मानकर सच्चे सिद्धान्तपर ही चल रहे हैं। नाम-रूपका भेद है, परन्तु वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं। सबका लक्ष्यार्थ एक ही है। ईश्वरको इस प्रकार सर्वोपरि, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन समझकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार किसी भी नाम-रूपसे उसकी जो उपासना की जाती है, वह उस एक ही परमात्माकी उपासना है।

विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी परमात्मा शिवके उपर्युक्त तत्त्वको न जाननेके कारण ही कुछ शिवोपासक भगवान् विष्णुकी निन्दा करते हैं। और कुछ वैष्णव भगवान् शिवकी निन्दा करते हैं। कोई-कोई यदि निन्दा और द्वेष नहीं भी करते हैं तो प्रायः उदासीन-से तो रहते ही हैं। परन्तु इस प्रकारका व्यवहार वस्तुतः ज्ञानरहित समझा जाता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा न करनेसे एकनिष्ठ अनन्य उपासनामें दोष आता है, तो वह ठीक

* अनादि उसको कहते हैं जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे।

नहीं है, जैसे पतिव्रता स्त्री एकमात्र अपने पतिको ही इष्ट मानकर उसकी आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई, पतिके माता-पिता, गुरुजन तथा अतिथि-अभ्यागत और पतिके अन्यान्य सम्बन्धी और प्रेमी बन्धुओंकी भी पतिकी आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये यथोचित आदरभावसे मन लगाकर विधिवत् सेवा करती है और ऐसा करती हुई भी वह अपने एकनिष्ठ पातिव्रत-धर्मसे जरा भी न गिरकर उलटे शोभा और यशको प्राप्त होती है। वास्तवमें दोष पाप-बुद्धि, भोग-बुद्धि और द्वेष-बुद्धिमें है अथवा व्यभिचार और शत्रुतामें है। यथोचित वैध-सेवा तो कर्तव्य है। इसी प्रकार परमात्माके किसी एक नाम-रूपको अपना परम इष्ट मानकर उसकी अनन्यभावसे भक्ति करते हुए ही अन्यान्य देवोंकी भी अपने इष्टदेवकी आज्ञानुसार उसी स्वामीकी प्रीतिके लिये श्रद्धा और आदरके साथ यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार जब एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही हैं तथा वास्तवमें उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब किसी एक नाम-रूपसे द्वेष या उसकी निन्दा, तिरस्कार और उपेक्षा करना उस परब्रह्मसे ही वैसा करना है। कहीं भी श्रीशिव या श्रीविष्णुने या श्रीब्रह्माने एक दूसरेकी न तो निन्दा आदि की है और न निन्दा आदि करनेके लिये किसीसे कहा ही है, बल्कि निन्दा आदिका निषेध और तीनोंको एक माननेकी प्रशंसा की है। शिवपुराणमें कहा गया है—

एते परस्परोत्पन्ना धारयन्ति परस्परम्।
परस्परेण वर्धन्ते परस्परमनुव्रताः॥

क्वचिद्ब्रह्मा क्वचिद्विष्णुः क्वचिद्रुद्रः प्रशस्यते ।
नानेव तेषामाधिक्यमैश्वर्यञ्चातिरिच्यते ॥
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः ।
यातुधाना भवन्त्येव पिशाचा वा न संशयः ॥

'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) एक दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक दूसरेको धारण करते हैं, एक दूसरेके द्वारा वृद्धिंगत होते हैं और एक दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्माकी प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवको। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य एक दूसरेकी अपेक्षा इस प्रकार अधिक कहा है मानो वे अनेक हों। जो संशयात्मा मनुष्य यह विचार करते हैं कि अमुक बड़ा है और अमुक छोटा है वे अगले जन्ममें राक्षस अथवा पिशाच होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

स्वयं भगवान् शिव श्रीविष्णुभगवान्‌से कहते हैं—

मद्दर्शने फलं यद्वै तदेव तव दर्शने ।
ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम् ॥
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम ।

(शिव० ज्ञान० ४ । ६१-६२)

'मेरे दर्शनका जो फल है वही आपके दर्शनका है। आप मेरे हृदयमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। जो हम दोनोंमें भेद नहीं समझता, वही मुझे मान्य है।'

भगवान् श्रीराम भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

ममासि हृदये शर्व भवतो हृदये त्वहम् ।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः ॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम् ॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः ।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः ॥

(पद्म० पाता० ४६ । २०–२२)

'आप शङ्कर मेरे हृदयमें रहते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है। मूर्ख एवं दुर्बुद्धि मनुष्य ही हमारे अन्दर भेद समझते हैं। हम दोनों एकरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेद-भावना करते हैं वे हजार कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकोंमें यातना सहते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्मिक पुरुष सदा ही मेरे भक्त रहे हैं और जो मेरे भक्त हैं वे प्रगाढ़ भक्तिसे आपको भी प्रणाम करते हैं।'

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

त्वत्परो नास्ति मे प्रेयांस्त्वं मदीयात्मनः परः ।
ये त्वां निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतसः ॥
पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुतं दिवि ॥
प्रजावान् भूमिमान् विद्वान् पुत्रबान्धववांस्तथा ।
ज्ञानवान्मुक्तिमान् साधुः शिवलिङ्गार्चनाद्भवेत् ।

शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः ।
कोटिजन्मार्जितात् पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः ॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्र० ६ । ३१-३२, ४५, ४७)

'मुझे आपसे बढ़कर कोई प्यारा नहीं है, आप मुझे अपनी आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं । जो पापी, अज्ञानी एवं बुद्धिहीन पुरुष आपकी निन्दा करते हैं, वे जबतक चन्द्र और सूर्यका अस्तित्व रहेगा तबतक कालसूत्रमें (नरकमें) पचते रहेंगे । जो शिवलिङ्गका निर्माण कर एक बार भी उसकी पूजा कर लेता है, वह दस हजार कल्पतक स्वर्गमें निवास करता है, शिवलिङ्गके अर्चनसे मनुष्यको प्रजा, भूमि, विद्या, पुत्र, बान्धव, श्रेष्ठता, ज्ञान एवं मुक्ति सब कुछ प्राप्त हो जाता है । जो मनुष्य 'शिव' शब्दका उच्चारण कर शरीर छोड़ता है वह करोड़ों जन्मोंके सञ्चित पापोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

भगवान् विष्णु श्रीमद्भागवत (४ । ७ । ५४) में दक्ष-प्रजापतिके प्रति कहते हैं—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥

'हे विप्र ! हम तीनों एकरूप हैं और समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, हमारे अन्दर जो भेद-भावना नहीं करता, निःसन्देह वह शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने कहा है—

शंकर-प्रिय मम द्रोही, शिव-द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरकमहँ बास ॥

औरो एक गुपत मत, सबहि कहौं कर जोरि।
शंकर-भजन बिना नर, भगति न पावहि मोरि॥

ऐसी अवस्थामें जो मनुष्य दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा या अपमान करता है, वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका अपमान या निन्दा करता है। परमात्माकी प्राप्तिके पूर्वकालमें परमात्माका यथार्थ रूप न जाननेके कारण भक्त अपनी समझके अनुसार अपने उपास्यदेव-का जो स्वरूप कल्पित करता है, वास्तवमें उपास्यदेवका स्वरूप उससे अत्यन्त विलक्षण है; तथापि उसकी अपनी बुद्धि, भावना तथा रुचिके अनुसार की हुई सच्ची और श्रद्धायुक्त उपासनाको परमात्मा सर्वथा सर्वांशमें स्वीकार करते हैं। क्योंकि ईश्वर-प्राप्तिके पूर्व ईश्वरका यथार्थ स्वरूप किसीके भी चिन्तनमें नहीं आ सकता। अतएव ईश्वरके किसी भी नाम-रूपकी निष्काम-भावसे उपासना करनेवाला पुरुष शीघ्र ही उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। हाँ, सकाम-भावसे उपासना करनेवालेको विलम्ब हो सकता है। तथापि सकाम-भावसे उपासना करनेवाला भी श्रेष्ठ और उदार ही माना गया है (गीता ७। १८), क्योंकि अन्तमें वह भी ईश्वरको ही प्राप्त होता है। 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७। २३)।

'शिव' शब्द नित्य, विज्ञानानन्दघन परमात्माका वाचक है। यह उच्चारणमें बहुत ही सरल, अत्यन्त मधुर और स्वाभाविक ही शान्तिप्रद है। 'शिव' शब्दकी उत्पत्ति 'वश कान्तौ' धातुसे हुई है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं उसका नाम

'शिव' है। सब चाहते हैं अखण्ड आनन्दको। अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ आनन्द हुआ। जहाँ आनन्द है वहीं शान्ति है और परम आनन्दको ही परम मङ्गल और परम कल्याण कहते हैं, अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ परम मङ्गल, परम कल्याण समझना चाहिये। इस आनन्ददाता, परम कल्याणरूप शिवको ही शंकर कहते हैं। 'शं' आनन्दको कहते हैं और 'कर' से करनेवाला समझा जाता है, अतएव जो आनन्द करता है वही 'शंकर' है। ये सब लक्षण उस नित्य, विज्ञानानन्दघन परम ब्रह्मके ही हैं।

इस प्रकार रहस्य समझकर शिवकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे उनकी कृपासे उनका तत्त्व समझमें आ जाता है। जो पुरुष शिव-तत्त्वको जान लेता है उसके लिये फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। शिव-तत्त्वको हिमालयतनया भगवती पार्वती यथार्थ-रूपसे जानती थीं, इसीलिये छद्मवेशी स्वयं शिवके बहकानेसे भी वे अपने सिद्धान्तसे तिलमात्र भी नहीं टलीं। उमा-शिवका यह संवाद बहुत ही उपदेशप्रद और रोचक है।

शिवतत्त्वैकनिष्ठ पार्वती शिवप्राप्तिके लिये घोर तप करने लगीं। माता मेनकाने स्नेहकातरा होकर उ (वत्से!) मा (ऐसा तप न करो) कहा, इससे उनका नाम 'उमा' हो गया। उन्होंने सूखे पत्ते भी खाने छोड़ दिये, तब उनका 'अपर्णा' नाम पड़ा। उनकी कठोर तपस्याको देख-सुनकर परम आश्चर्यान्वित हो ऋषिगण भी कहने लगे कि 'अहो, इसको धन्य है, इसकी तपस्याके सामने दूसरोंकी तपस्या कुछ भी नहीं है।' पार्वतीकी इस तपस्याको देखने-

के लिये एक समय स्वयं भगवान् शिव जटाधारी वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें तपोभूमिमें आये और पार्वतीके द्वारा फल-पुष्पादिसे पूजित होकर उसके तपका उद्देश्य शिवसे विवाह करना है, यह जानकर कहने लगे—

'हे देवि ! इतनी देर बातचीत करनेसे तुमसे मेरी मित्रता हो गयी है । मित्रताके नाते मैं तुमसे कहता हूँ, तुमने बड़ी भूल की है । तुम्हारा शिवके साथ विवाह करनेका सङ्कल्प सर्वथा अनुचित है । तुम सोनेको छोड़कर काँच चाह रही हो, चन्दन त्यागकर कीचड़ पोतना चाहती हो । हाथी छोड़कर बैलपर मन चलाती हो । गङ्गाजल परित्यागकर कुएँका जल पीनेको इच्छा करती हो । सूर्यका प्रकाश छोड़कर खद्योतको और रेशमी वस्त्र त्यागकर चमड़ा पहनना चाहती हो । तुम्हारा यह कार्य तो देवताओंकी सन्निधिका त्याग-कर असुरोंका साथ करनेके समान है । उत्तमोत्तम देवोंको छोड़कर शङ्करपर अनुराग करना सर्वथा लोकविरुद्ध है ।

जरा सोचो तो सही, कहाँ तुम्हारा कुसुम-सुकुमार शरीर और त्रिभुवनकमनीय सौन्दर्य और कहाँ जटाधारी, चिताभस्मलेपन-कारी, श्मशानविहारी, त्रिनेत्र भूतपति महादेव ! कहाँ तुम्हारे घरके देवतालोग और कहाँ शिवके पार्षद भूत-प्रेत ! कहाँ तुम्हारे पिता-के घर बजनेवाले सुन्दर बाजोंकी ध्वनि और कहाँ उस महादेवके डमरू, सिंगी और गाल बजानेकी ध्वनि ! न महादेवके माँ-बापका पता है, न जातिका ! दरिद्रता इतनी कि पहननेको कपड़ातक नहीं है ! दिगम्बर रहते हैं, बैलकी सवारी करते हैं और बाघका

चमड़ा ओढ़े रहते हैं ! न उनमें विद्या है और न शौचाचार ही है ! सदा अकेले रहनेवाले, उत्कट विरागी, रुण्डमालाधारी महादेवके साथ रहकर तुम क्या सुख पाओगी ?'

पार्वती और अधिक शिव-निन्दा न सह सकीं । वे तमककर बोलीं—'बस, बस, बस रहने दो, मैं और अधिक सुनना नहीं चाहती । मालूम होता है, तुम शिवके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते । इसीसे यों मिथ्या प्रलाप कर रहे हो । तुम किसी धूर्त ब्रह्मचारीके रूपमें यहाँ आये हो । शिव वस्तुतः निर्गुण हैं, करुणा-वश ही वे सगुण होते हैं । उन सगुण और निर्गुण—उभयात्मक शिवकी जाति कहाँसे होगी ? जो सबके आदि हैं, उनके माता-पिता कौन होंगे और उनकी उम्रका ही क्या परिमाण बाँधा जा सकता है ? सृष्टि उनसे उत्पन्न होती है, अतएव उनकी शक्तिका पता कौन लगा सकता है ? वही अनादि, अनन्त, नित्य, निर्विकार, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणाधार, सर्वज्ञ, सर्वोपरि, सनातनदेव हैं । तुम कहते हो, महादेव विद्याहीन हैं । अरे, ये सारी विद्याएँ आयी कहाँसे हैं ? वेद जिनके निःश्वास हैं उन्हें तुम विद्याहीन कहते हो ? छिः ! छिः !! तुम मुझे शिवको छोड़कर किसी अन्य देवताका वरण करनेको कहते हो। अरे, इन देवताओं-को जिन्हें तुम बड़ा समझते हो, देवत्व प्राप्त ही कहाँसे हुआ ? यह उन भोलेनाथकी ही कृपाका तो फल है । इन्द्रादि देवगण तो उनके दरवाजेपर ही स्तुति-प्रार्थना करते रहते हैं और बिना उनके गणोंकी आज्ञाके अन्दर घुसनेका साहस नहीं कर सकते। तुम उन्हें अमङ्गलवेश कहते हो ? अरे, उनका 'शिव'—यह

मङ्गलमय नाम जिनके मुखमें निरन्तर रहता है, उनके दर्शनमात्रसे सारी अपवित्र वस्तुएँ भी पवित्र हो जाती हैं, फिर भला स्वयं उनकी तो बात ही क्या ? जिस चिता-भस्मकी तुम निन्दा करते हो, नृत्य-के अन्तमें जब वह उनके श्रीअङ्गोंसे झड़ती है उस समय देवतागण उसे अपने मस्तकोंपर धारण करनेको लालायित होते हैं। बस, मैंने समझ लिया, तुम उनके तत्त्वको बिल्कुल नहीं जानते। जो मनुष्य इस प्रकार उनके दुर्गम तत्त्वको बिना जाने उनकी निन्दा करते हैं, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके सञ्चित किये हुए पुण्य विलीन हो जाते हैं। तुम-जैसे शिव-निन्दकका सत्कार करनेसे भी पाप लगता है। शिव-निन्दकको देखकर भी मनुष्यको सचैल स्नान करना चाहिये, तभी वह शुद्ध होता है। बस, अब मैं यहाँसे जाती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि यह दुष्ट फिरसे शिवकी निन्दा प्रारम्भकर मेरे कानोंको अपवित्र करे। शिवकी निन्दा करनेवालेको तो पाप लगता ही है, उसे सुननेवाला भी पापका भागी होता है।' यह कहकर उमा वहाँसे चल दीं। ज्यों ही वे वहाँसे जाने लगीं, वटु-वेशधारी शङ्करने उन्हें रोक लिया। वे अधिक देरतक पार्वतीसे छिपे न रह सके, पार्वती जिस रूपका ध्यान करती थीं उसी रूपमें उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो !'

पार्वतीकी इच्छा पूर्ण हुई, उन्हें साक्षात् शिवके दर्शन हुए। दर्शन ही नहीं, कुछ कालमें शिवने पार्वतीका पाणिग्रहण कर लिया।

जो पुरुष उन त्रिनेत्र, व्याघ्राम्बरधारी, सदाशिव परमात्माको निर्गुण, निराकार एवं सगुण, निराकार समझकर उनकी सगुण,

साकार दिव्य मूर्तिकी उपासना करता है उसीकी उपासना सच्ची और सर्वाङ्गपूर्ण है। इस समग्रतामें जितना अंश कम होता है, उतनी ही उपासनाकी सर्वाङ्गपूर्णतामें कमी है और उतना ही वह शिव-तत्त्वसे अनभिज्ञ है।

महेश्वरकी लीलाएँ अपरम्पार हैं। वे दया करके जिनको अपनी लीलाएँ और लीलाओंका रहस्य जनाते हैं, वही जान सकते हैं। उनकी कृपाके बिना तो उनकी विचित्र लीलाओंको देख-सुनकर देवी, देवता एवं मुनियोंको भी भ्रम हो जाया करता है, फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु वास्तवमें शिवजी महाराज हैं बड़े ही आशुतोष! उपासना करनेवालोंपर बहुत ही शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। रहस्यको जानकर निष्काम-प्रेमभावसे भजनेवालोंपर प्रसन्न होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है? सकामभावसे, अपना मतलब गाँठनेके लिये जो अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं उनपर भी आप रीझ जाते हैं। भोले भण्डारी मुँहमाँगा वरदान देनेमें कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचते। जरा-सी भक्ति करनेवालेपर ही आपके हृदयका दयासमुद्र उमड़ पड़ता है। इस रहस्यको समझनेवाले आपको व्यङ्गसे 'भोलानाथ' कहा करते हैं। इस विषयमें गोसाईं तुलसीदासजी महाराजकी कल्पना बहुत ही सुन्दर है। वे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी!
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई भानी ॥टेक॥
निज घरकी बर बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।

शिवकी दई सम्पदा देखत, श्रीशारदा सिहानी ॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी ।
तिन रंकनको नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम-प्रशंसा बिनय ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बर बानी ।
तुलसी मुदित महेश मनहिं मन, जगतमातु मुसकानी ॥

ऐसे भोलेनाथ भगवान् शङ्करको जो प्रेमसे नहीं भजते, वास्तवमें वे शिवके तत्त्वको नहीं जानते, अतएव उनका मनुष्य-जन्म लेना ही व्यर्थ है । इससे अधिक उनके लिये और क्या कहा जाय । अतएव प्रिय पाठकगणो ! आपलोगोंसे मेरा नम्र निवेदन है, यदि आपलोग उचित समझें तो नीचे लिखे साधनोंको समझकर यथाशक्ति उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करें—

(क) पवित्र और एकान्त स्थानमें गीता अध्याय ६, श्लोक १० से १४ के अनुसार भगवान् शिवकी शरण होकर—

(१) भगवान् शङ्करके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तों-द्वारा श्रवण करके, मनन करना एवं स्वयं भी सत्-शास्त्रोंको पढ़कर उनका रहस्य समझनेके लिये मनन करना और उनके अनुसार आचरण करनेके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करना ।

(२) भगवान् शिवकी शान्तमूर्तिका पूजन-वन्दनादि श्रद्धा और प्रेमसे नित्य करना ।

(३) भगवान् शङ्करमें अनन्य प्रेम होनेके लिये विनय-भावसे रुदन करते हुए गद्गद वाणीद्वारा स्तुति और प्रार्थना करना ।

(४) 'ॐ नमः शिवाय'— इस मन्त्रका मनके द्वारा या श्वासोंके द्वारा प्रेमभावसे गुप्त जप करना ।

(५) उपर्युक्त रहस्यको समझकर प्रभावसहित यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिसहित निष्काम-भावसे ध्यान करना ।

(ख) व्यवहारकालमें—

(१) स्वार्थको त्यागकर प्रेमपूर्वक सबके साथ सद्व्यवहार करना ।

(२) भगवान् शिवमें प्रेम होनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार फलासक्तिको त्यागकर शास्त्रानुकूल यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप, सेवा एवं वर्णाश्रमके अनुसार जीविका-के कर्मोंको करना

(३) सुख, दुःख एवं सुख-दुःखकारक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशको शङ्करकी इच्छासे हुआ समझकर उनमें पद-पदपर भगवान् सदाशिवकी दयाका दर्शन करना ।

(४) रहस्य और प्रभावको समझकर श्रद्धा और निष्काम प्रेमभावसे यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका निरन्तर

ध्यान होनेके लिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, उस शिवके नाम-जपका अभ्यास सदा-सर्वदा करना।

(५) दुर्गुण और दुराचारको त्यागकर सद्गुण और सदाचारके उपार्जनके लिये हर समय कोशिश करते रहना।

उपर्युक्त साधनोंको मनुष्य कटिबद्ध होकर ज्यों-ज्यों करता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके अन्तःकरणकी पवित्रता, रहस्य और प्रभावका अनुभव तथा अतिशय श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है। इसलिये कटिबद्ध होकर उपर्युक्त साधनोंको करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। इन सब साधनोंमें भगवान् सदाशिवका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना सबसे बढ़कर है। अतएव नाना प्रकारके कर्मोंके बाहुल्यके कारण उसके चिन्तनमें एक क्षणकी भी बाधा न आवे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि अनन्य प्रेमकी प्रगाढ़ताके कारण शास्त्रानुकूल कर्मोंके करनेमें कहीं कमी आती हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु प्रेममें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। क्योंकि जहाँ अनन्य प्रेम है वहाँ भगवान्का चिन्तन (ध्यान) तो निरन्तर होता ही है। और उस ध्यानके प्रभावसे पद-पदपर भगवान्की दयाका अनुभव करता हुआ मनुष्य भगवान् सदाशिवके तत्त्वको यथार्थरूपसे समझकर कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव भगवान् शिवके प्रेम और प्रभावको समझकर उनके स्वरूपका निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर चिन्तन होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।



शक्तिका रहस्य



शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिये भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारने प्रेरणा की, किन्तु 'शक्ति' शब्द बहुव्यापक होनेके कारण इसके रहस्यको समझानेकी मैं अपनेमें शक्ति नहीं देखता; तथापि उनके आग्रहसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् लिख रहा हूँ।

शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना

शास्त्रोंमें 'शक्ति' शब्दके प्रसङ्गानुसार अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। तान्त्रिकलोग इसीको पराशक्ति कहते हैं और इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म मानते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदिमें भी 'शक्ति' शब्दका प्रयोग देवी, पराशक्ति, ईश्वरी, मूल-प्रकृति आदि नामोंसे विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मके

लिये भी किया गया है । विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अति सूक्ष्म एवं गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की गयी है । इसलिये 'शक्ति' नामसे ब्रह्मकी उपासना करनेसे भी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है । एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नामरूपसे भक्तलोग उपासना करते हैं । रहस्यको जानकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार उपासना करनेवाले सभी भक्तोंको उसकी प्राप्ति हो सकती है । उस दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमसे उपासना करना ही उसके रहस्यको जानकर उपासना करना है, इसलिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उस विज्ञानानन्दस्वरूपा महाशक्ति भगवती देवीकी उपासना करनी चाहिये । वह निर्गुणस्वरूपा देवी जीवोंपर दया करके स्वयं ही सगुणभावको प्राप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करती है ।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—

> त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
> त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका ॥
> कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम् ।
> परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी ॥
> तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा ।
> सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा ॥

सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवैवर्तपु० प्रकृति० २। ६६। ७-१०)

'तुम्हीं विश्वजननी मूलप्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्व मङ्गलोंकी भी मङ्गल हो।

उस ब्रह्मरूप चेतनशक्तिके दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं—एक निराकार और दूसरा साकार। इसीसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसीको पराशक्तिके नामसे कहा गया है।

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वशाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणि स्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः। (बह्वृचोपनिषद्)

उस पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजा बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम मनुष्यादि प्राणीमात्र उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।

ऋग्वेदमें भगवती कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋग्वेद० अष्टक ८।७।११)

अर्थात् 'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि—

'सर्वोपेता तद्दर्शनात्' (द्वि० अ० प्रथमपाद)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रोंमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसलिये महाशक्तिके नामसे भी ब्रह्मकी उपासना की जा सकती है। बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने माँ,

भगवती, शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना की थी। वे परमेश्वरको माँ, तारा, काली आदि नामोंसे पुकारा करते थे। और भी बहुत-से महात्मा पुरुषोंने स्त्रीवाचक नामोंसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी उपासना की है। ब्रह्मकी महाशक्तिके रूपमें श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की उपासना

बहुत-से सज्जन इसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति मानते हैं। महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी इसीको कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, सीता आदि सभी इस शक्तिके ही रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं। परमेश्वर शक्तिमान् है और भगवती परमेश्वरी उसकी शक्ति है। शक्तिमान्‌से शक्ति अलग होनेपर भी अलग नहीं समझी जाती। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। यह सारा संसार शक्ति और शक्तिमान्‌से परिपूर्ण है और उसीसे इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस प्रकार समझकर वे लोग शक्तिमान् और शक्ति युगलकी उपासना करते हैं। प्रेमस्वरूपा भगवती ही भगवान्‌को सुगमतासे मिला सकती है। इस प्रकार समझकर कोई-कोई केवल भगवतीकी ही उपासना करते हैं। इतिहास-पुराणादिमें सब प्रकारके उपासकोंके लिये प्रमाण भी मिलते हैं।

इस महाशक्तिरूपा जगज्जननीकी उपासना लोग नाना प्रकारसे करते हैं। कोई तो इस महेश्वरीको ईश्वरसे भिन्न समझते हैं और

कोई अभिन्न मानते हैं। वास्तवमें तत्त्वको समझ लेना चाहिये फिर चाहे जिस प्रकार उपासना करे कोई हानि नहीं है। तत्त्वको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना करनेसे सभी उस एक प्रेमास्पद परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रोंमें इस गुणमयी विद्या-अविद्यारूपा मायाशक्तिको प्रकृति, मूलप्रकृति, महामाया, योग-माया आदि अनेक नामोंसे कहा है। उस मायाशक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त यानी साम्यावस्था तथा विकृतावस्था दो अवस्थाएँ हैं। उसे कार्य, कारण एवं व्याकृत, अव्याकृत भी कहते हैं। तेईस तत्त्वोंके विस्तारवाला यह सारा संसार तो उसका व्यक्त स्वरूप है। जिससे सारा संसार उत्पन्न होता है और जिसमें यह लीन हो जाता है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

अर्थात् 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं।'

संसारकी उत्पत्तिका कारण कोई परमात्माको और कोई प्रकृति-को तथा कोई प्रकृति और परमात्मा दोनोंको बतलाते हैं। विचार

करके देखनेसे सभीका कहना ठीक है । जहाँ संसारकी रचयिता प्रकृति है वहाँ समझना चाहिये कि पुरुषके सकाशसे ही गुणमयी प्रकृति संसारको रचती है ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

(गीता ९ । १०)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है ।'

जहाँ संसारका रचयिता परमेश्वर है वहाँ सृष्टिके रचनेमें प्रकृति द्वार है ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

(गीता ९ । ८)

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बारम्बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ ।'

वास्तवमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही चराचर संसारकी उत्पत्ति होती है ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

(गीता १४ । ३)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

क्योंकि विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परमात्मा निर्विकार होनेके कारण उसमें क्रियाका अभाव है। और त्रिगुणमयी माया जड होनेके कारण उसमें भी क्रियाका अभाव है। इसलिये परमात्माके सकाशसे जब प्रकृतिमें स्पन्द होता है तभी संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव प्रकृति और परमात्माके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। महाप्रलयमें कार्यसहित तीनों गुण कारणमें लय हो जाते हैं तब उस प्रकृतिकी अव्यक्तस्वरूप साम्यावस्था हो जाती है। उस समय सारे जीव स्वभाव, कर्म और वासनासहित उस मूल प्रकृतिमें तन्मय-से हुए अव्यक्तरूपसे स्थित रहते हैं। प्रलयकालकी अवधि समाप्त होनेपर उस माया-शक्तिमें ईश्वरके सकाशसे स्फूर्ति होती है तब विकृत अवस्थाको प्राप्त हुई प्रकृति तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाती है तब उसे व्यक्त कहते हैं। फिर ईश्वरके सकाशसे ही वह गुण, कर्म और वासनाके अनुसार फल भोगनेके लिये चराचर जगत्को रचती है।

त्रिगुणमयी प्रकृति और परमात्माका परस्पर आधेय और आधार एवं व्याप्यव्यापकसम्बन्ध है। प्रकृति आधेय और परमात्मा आधार है। प्रकृति व्याप्य और परमात्मा व्यापक है। नित्य चेतन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें चराचर जगत्के सहित

प्रकृति है। जैसे तेज, जल, पृथिवीके सहित वायु आकाशके आधार है वैसे ही यह परमात्माके आधार है। जैसे बादल आकाशसे व्याप्त है वैसे ही परमात्मासे प्रकृतिसहित यह सारा संसार व्याप्त है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(गीता ९।६)

अर्थात् 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं—ऐसे जान।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४२)

अर्थात् 'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

अर्थात् 'त्रिगुणमयी मायामें स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।'

किन्तु उस त्रिगुणमयी मायासे वह लिपायमान नहीं होता। क्योंकि विज्ञानानन्दघन परमात्मा गुणातीत केवल और सबका साक्षी है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेता० ६ । ११)

अर्थात् 'जो देव सब भूतोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्व भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, सब भूतोंका आश्रय, सबका साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण यानी सत्त्व, रज, तम— इन तीनों गुणोंसे परे है वह एक है ।'

इस प्रकार गुणोंसे अतीत परमात्माको अच्छी प्रकार जानकर मनुष्य इस संसारके सारे दुःखों और क्लेशोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है । इसके जाननेके लिये सबसे सहज उपाय उस परमेश्वरकी अनन्य शरण है । इसलिये उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द परमात्माकी सर्व प्रकारसे शरण होना चाहिये ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

अर्थात् 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

विद्या-अविद्यारूप त्रिगुणमयी यह महामाया बड़ी विचित्र है। इसे कोई अनादि, अनन्त और कोई अनादि, सान्त मानते हैं। तथा कोई इसको सत् और कोई असत् कहते हैं एवं कोई इसको ब्रह्मसे अभिन्न और कोई इसे ब्रह्मसे भिन्न बतलाते हैं। वस्तुतः यह माया बड़ी विलक्षण है इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहा है।

अविद्या—दुराचार, दुर्गुणरूप, आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति, महत्तत्त्वका कार्यरूप यह सारा दृश्यवर्ग इसीका विस्तार है।

विद्या—भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, योगमाया, समष्टि बुद्धि, शुद्ध बुद्धि, सूक्ष्म बुद्धि, सदाचार, सद्गुणरूप दैवी सम्पदा यह सब इसीका विस्तार है।

जैसे ईंधनको भस्म करके अग्नि स्वतः शान्त हो जाता है वैसे ही अविद्याका नाश करके विद्या स्वतः ही शान्त हो जाती है, ऐसे मानकर यदि मायाको अनादि-सान्त बतलाया जाय तो यह दोष आता है कि यह माया आजसे पहले ही सान्त हो जानी चाहिये थी। यदि कहें भविष्यमें सान्त होनेवाली है तो फिर इससे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? इसके सान्त होनेपर सारे जीव अपने आप ही मुक्त हो जायँगे। फिर भगवान् किसलिये कहते हैं कि यह त्रिगुणमयी मेरी माया तरनेमें बड़ी दुस्तर है किन्तु जो मेरी शरण हो जाते हैं वे इस मायाको तर जाते हैं।

यदि इस मायाको अनादि, अनन्त बतलाया जाय तो इसका सम्बन्ध भी अनादि-अनन्त होना चाहिये। सम्बन्ध अनादि-अनन्त मान लेनेसे जीवका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता और

भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके अन्तरको तत्त्वसे समझ लेनेपर जीव मुक्त हो जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

(गीता १३ । ३४)

अर्थात् 'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकार-सहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।'

इसलिये इस मायाको अनादि, अनन्त भी नहीं माना जा सकता । इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही । असत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसका विकार-रूप यह सारा संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं बतलाया जाता कि यह दृश्य जडवर्ग सर्वदा परिवर्तनशील होनेके कारण इसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती ।

इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न भी नहीं कह सकते क्योंकि माया यानी प्रकृति जड, दृश्य, दुःखरूप विकारी है और परमात्मा चेतन, द्रष्टा, नित्य, आनन्दरूप और निर्विकार हैं । दोनों अनादि होनेपर भी परस्पर इनका बड़ा भारी अन्तर है ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

(श्वेता० ४ । १०)

---

* क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके भेदको जानना है ।

'त्रिगुणमयी मायाको तो प्रकृति (तेईस तत्त्व जडवर्गका कारण) तथा मायापतिको महेश्वर जानना चाहिये ।'

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

(श्वेता० ५ । १)

'जिस सर्वव्यापी, अनन्त, अविनाशी, परब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मामें विद्या, अविद्या दोनों गूढ़भावसे स्थित हैं । अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है (क्योंकि विद्यासे अविद्याका नाश होता है) तथा जो विद्या, अविद्यापर शासन करनेवाला है वह परमात्मा दोनोंसे ही अलग है ।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गीता १५ । १८)

अर्थात् 'क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ।'

तथा इस मायाको परमेश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते । क्योंकि वेद और शास्त्रोंमें इसे ब्रह्मका रूप बतलाया है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३ । १४ । १)

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७ । १९)

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९ । १९)

तथा माया ईश्वरकी शक्ति है और शक्तिमान्‌से शक्ति अभिन्न होती है । जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न है इसलिये परमात्मासे इसे भिन्न भी नहीं कह सकते ।

चाहे जैसे हो तत्त्वको समझकर उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये । तत्त्वको समझकर की हुई उपासना ही सर्वोत्तम है। जो उस परमेश्वरको तत्त्वसे समझ जाता है वह उसको एक क्षण भी नहीं भूल सकता, क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही है, इस प्रकार समझनेवाला परमात्माको कैसे भूल सकता है ? अथवा जो परमात्माको सारे संसारसे उत्तम समझता है वह भी परमात्माको छोड़कर दूसरी वस्तुको कैसे भज सकता है ? यदि भजता है तो परमात्माके तत्त्वको नहीं जानता । क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य जिसको उत्तम समझता है उसीको भजता है यानी ग्रहण करता है ।

मान लीजिये एक पहाड़ है । उसमें लोहे, ताँबे, शीशे और सोनेकी चार खानें हैं । किसी ठेकेदारने परिमित समयके लिये उन खानोंको ठेकेपर ले लिया और वह उससे माल निकालना चाहता है तथा चारों धातुओंमेंसे किसीको भी निकालो, समय करीब-करीब बराबर ही लगता है । इन चारोंकी क़ीमतको जाननेवाला ठेकेदार सोनेके रहते हुए, सोनेको छोड़कर क्या लोहा, ताँबा, शीशा निकालनेके लिये अपना समय लगा सकता है ? कभी नहीं। सर्व प्रकारसे वह तो केवल सुवर्ण ही निकालेगा । वैसे ही माया और परमेश्वरके तत्त्वको जाननेवाला परमेश्वरको छोड़कर

नाशवान्, क्षणभङ्गुर भोग और अर्थके लिये अपने अमूल्य समयको कभी नहीं लगा सकता । वह सब प्रकारसे निरन्तर परमात्माको ही भजेगा ।

गीतामें भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५ । १९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

इस प्रकार ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनेसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है । इसलिये श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य निरन्तर परमेश्वरका भजन, ध्यान करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिये ।



गीतामें चतुर्भुज रूप



एक सज्जनका प्रश्न है कि भगवान्‌ने गीताके ११ वें अध्याय-के ४५ वें और ४६ वें श्लोकमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर कौन-सा रूप दिखलाया? वह मनुष्यरूप था या देवरूप? यदि देवरूप था तो अर्जुनने ४१ वें एवं ४२ वें श्लोकमें प्रभाव नहीं जाननेकी बात कैसे कही?

उत्तर

श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायके ४५ वें श्लोकमें अर्जुनने कहा है—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

इस श्लोकार्धका अर्थ—'हे देव! आप उसी रूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये' यह

भी हो सकता है, और 'हे देवेश ! आप उसी देवरूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है। 'देव' शब्दके साथ 'रूपम्' की सन्धि कर देनेसे 'देवरूप' स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग रखनेसे देव सम्बोधन हो जाता है। वहीं 'देवेश' सम्बोधन है इसलिये 'देव' सम्बोधनकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि 'देव' सम्बोधन मान लिया तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रायः संस्कृत-टीकाकारोंने सम्बोधन ही माना है। गीताप्रेसकी साधारण टीकामें भी सम्बोधन माना गया है। ऐसा मानकर भी अर्जुनकी प्रार्थनाका भाव 'देवरूप' दिखलानेमें ही है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि ४६ वें श्लोकमें अर्जुन स्पष्ट कहता है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुज रूपसे युक्त हो जाइये !'

भगवान् श्रीकृष्ण भी समय-समयपर चतुर्भुज रूपसे, केवल अर्जुनको ही नहीं, दूसरोंको भी दर्शन दिया करते थे, जिसके लिये महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थोंमें प्रमाण मिलते हैं—

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।

(श्रीमद्भा० १० । ६० । २६)

'पलङ्गसे शीघ्र उतरकर नीचे पड़ी हुई रुक्मिणीको चतुर्भुज भगवान्‌ने उठाया ।'

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८६ । ५४)

'यह मेरा चतुर्भुज रूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं सर्वदेवमय हूँ ।'

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा ।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ॥

(महा० अश्व० ५२ । ५४)

'कुन्तीने भलीभाँति आशीर्वाद दिया, विदुर आदि सबने सम्मान किया, तब चतुर्भुज श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य रथमें बैठकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले !'

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः ।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः ॥

(महा० अनु० १४८ । २२)

'वे पुरुषोंमें सिंहके समान हैं, मेघवर्ण हैं, चार भुजावाले हैं,

वे प्रेमके कारण तुम पाण्डवोंके अधीन हैं और तुमने उनका आश्रय लिया है।'

इन प्रमाणोंसे तो चतुर्भुज मनुष्यरूप मान लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती परन्तु यहाँ वैसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि ४८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः' आदि कहकर विश्वरूपकी प्रशंसा की है फिर आगे चलकर ५३ वें श्लोकमें भी 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदि कहकर करीब-करीब इसी प्रकारकी प्रशंसा पुनः की है। यह प्रशंसा विश्वरूपकी नहीं मानी जा सकती क्योंकि अत्यन्त समीपमें इस प्रकार पुनरुक्ति-दोष आना युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरे, वहाँ ५४ वें श्लोकमें यह कहा गया है कि अनन्य-भक्तिके द्वारा मैं अपना ऐसा रूप दिखा सकता हूँ, परन्तु विश्वरूप-के लिये भगवान् पहले कह चुके हैं कि 'यह मेरा परम तेजोमय विश्वरूप तेरे सिवा दूसरे किसीने पहले नहीं देखा। मनुष्यलोकमें इस विश्वरूपको मैं वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपसे भी तेरे सिवा दूसरेको नहीं दिखा सकता।' इसका यह अर्थ नहीं कि अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता, या यह भी अर्थ नहीं कि श्रीभगवान् विश्वरूपके दिखलाने-में असमर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि जैसा रूप अर्जुनको दिखलाया, वैसा दूसरेको नहीं दिखाया जा सकता। क्योंकि वह महाभारत-कालका रूप है। भीष्मादि दोनों सेनाओंके वीर भगवान्‌के दाढ़ोंमें हैं। यह रूप सदा एक-सा नहीं रहता, बदलता रहता है,

इसीलिये भगवान्ने स्पष्ट कहा कि 'इस नर-लोकमें दूसरे किसीने न तो यह रूप पहले देखा है और न आगे देख सकता है।' यद्यपि सञ्जयने भी यह रूप देखा था परन्तु वह समकालीन था। भगवान् श्रीकृष्णने गीतासे पूर्व एक बार कौरवोंकी राजसभामें विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वह रूप इस विश्वरूपसे भिन्न था। तीसरी बात यह है कि इस विशाल विश्वरूपको देखनेके लिये दिव्यचक्षुकी आवश्यकता थी। भगवान्ने 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' कहकर अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये दिव्य चक्षु दिये थे। परन्तु यहाँ दिव्य चक्षुकी कोई बात नहीं है। अनन्य भक्ति करनेवाला कोई भी उस स्वरूपको देख सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ५२ से ५४ श्लोकमें की गयी महिमा विश्वरूपकी नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वह महिमा विश्वरूपकी तो नहीं है परन्तु भगवान्के चतुर्भुज मनुष्यरूपकी है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि वहाँ ५२ वें श्लोकमें कहा गया है कि 'मेरा यह दुर्लभ रूप जो तुमने देखा है, इस रूपको देखनेकी देवता भी सदा आकांक्षा करते हैं—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'— देवता मनुष्यरूप चतुर्भुजकी आकांक्षा क्यों करने लगे? वह तो मनुष्योंको भी दीख सकता था फिर देवताओंके लिये कौन-सी दुर्लभ बात थी? यदि यह कहा जाय कि देवता विश्वरूपके दर्शनकी आकांक्षा करते हैं सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जिसके मुखारविन्दमें दोनों सेनाओंके वीर जा रहे हैं, और चूर्ण हो रहे हैं, ऐसे घोर रूपके दर्शनकी आकांक्षा देवतागण क्यों

करेंगे ? इससे यही सिद्ध होता है कि दूसरी बार की हुई महिमा भगवान्‌के देवरूप चतुर्भुजकी है। अर्जुनके 'गदिनं चक्रिणम्' शब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है क्योंकि नररूप भगवान् तो युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी दुर्योधनसे प्रतिज्ञा कर चुके थे फिर गदादि धारण करनेके लिये अर्जुन उनसे क्योंकर कहता ? सञ्जयके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि पहले भगवान्‌ने अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार अपना चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, फिर तुरन्त ही सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर अर्जुनको आश्वासन दिया।

चतुर्भुज देवरूपके प्राकट्यके बाद और मनुष्यरूप होनेके पूर्व अर्जुनकी कैसी स्थिति रही इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। भगवान्‌के मनुष्यरूप हो जानेके बाद ही अर्जुन अपनी स्थितिका वर्णन करता है कि 'अब मैं अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो गया।' इससे अनुमान होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके सौम्य मनुष्यरूप धारण करनेपर ही अर्जुन अपनी पूर्व स्थितिमें आया। चतुर्भुज देवरूप-दर्शनके समय उसकी स्थिति सम्भवतः आश्चर्ययुक्त और हर्षोन्मत्त-सी हो गयी होगी। किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीसे बहुत-से संस्कृत-टीकाकारोंने चतुर्भुज देवरूपके प्रकट होनेका वर्णन नहीं किया। परन्तु सञ्जयके कथनमें इसका स्पष्ट वर्णन है, सञ्जय कहता है—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥
(गीता ११ । ५०)

इस श्लोकका सरल और स्पष्ट अन्वय यों होता है—

वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च पुनः महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनं भीतम् आश्वासयामास ।

अर्थात् 'वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज (देव) रूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्य मूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया ।'

उपर्युक्त आधे श्लोकके 'भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास' इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि श्रीभगवान्ने ४९ वें श्लोकमें जो यह—'व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तद् एव मे इदं रूपं पुनः प्रपश्य ।' अर्थात् 'भयरहित हुआ प्रीतियुक्त मनवाला तू मेरे उसी रूपको देख' कहा था, वही अर्जुनका वाञ्छनीय देवरूप दिखलाया । इसके बादके आधे उत्तरार्द्धमें पुनः सौम्य मनुष्यवपु होकर धीरज देनेकी बात आ गयी ।

ऐसा सीधा अन्वय न लगाकर कोई-कोई 'सौम्यवपु' को 'स्वकं रूपम्' का विशेषण मान लेते हैं परन्तु वैसा नहीं बन सकता क्योंकि 'स्वकं रूपम्' द्वितीया विभक्तिका एक वचन और कर्म है, यहाँ 'सौम्यवपु' महात्मा कृष्णका विशेषण है और कर्तामें

प्रथमा विभक्तिका एक वचन है। इसके सिवा ऐसा माननेमें 'भूत्वा' अव्यय भी व्यर्थ हो जाता है। कोई-कोई क्लिष्ट कल्पना करके खींचतानकर ऐसा अन्वय करते हैं—

महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा पुनः सौम्यवपुः भूत्वा तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च एनं भीतं पुनः आश्वासयामास।

इस अन्वयके अनुसार ऐसा अर्थ बनता है कि भगवान् पहले सौम्यवपु हुए और तब अर्जुनको अपना रूप दिखलाया। जब सौम्यवपु हो ही गये तो फिर दिखलाया क्या, सौम्यवपु होते ही अर्जुनने देख ही लिया। 'भूत्वा' अव्यय किसी दूसरी क्रियाकी अपेक्षा करता है और वह क्रिया 'आश्वासयामास' ही होनी चाहिये क्योंकि वही नजदीकमें है। परन्तु इसको न लेकर 'स्वकं रूपं दर्शयामास' क्रिया लेनेसे अन्वयका कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट हो जाती है और अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। 'महात्मा' शब्दको भी 'वासुदेव' का विशेषण नहीं लेना चाहिये क्योंकि वह 'सौम्यवपु' के समीप है। परमार्थप्रपा-टीकामें भी यही अर्थ लिया गया है कि भगवान्ने पहले चतुर्भुज देवरूप दिखलाया पीछे सौम्यवपु होकर आश्वासन दिया।

अब यह शंका रह जाती है कि अर्जुनने ४५ वें श्लोकमें तदेव (तद् एव) और ४६ वें श्लोकमें तेनैव (तेन एव) यानी उसी रूपको देखनेकी प्रार्थना की है। यहाँ इन 'तत्' और 'तेन' शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि अर्जुनका सङ्केत पहले देखे हुए

स्वरूपको देखनेके लिये ही है। यदि यह कहा जाय कि 'तत्' शब्दसे अत्यन्त समीपका रूप लिया जानेके कारण मनुष्यरूप ही मिलता है सो ठीक है परन्तु उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि अर्जुनकी प्रार्थना मनुष्यरूप दिखलानेकी नहीं, देवरूप दिखलानेके लिये थी। तब यह शंका होती है कि क्या वह देवरूप पहले कभी अर्जुनने देखा था और यदि देखा था तो फिर ४१ वें और ४२ वें श्लोकोंमें प्रभाव न जाननेकी बात उसने कैसे कही ? इस शंकाका समाधान यह है कि अर्जुनके 'देवरूपं किरीटिनं गदिनं तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' आदि शब्दोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुनने किसी समय भगवान्के देवस्वरूपका गुप्तरूपसे दर्शन किया था, तभी इतने विशेषणोंसे उसका लक्ष्य करवा रहा है, नहीं तो 'तदेव मे दर्शय देव रूपम्' इतना ही कहना काफी था, अन्य किसी विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं थी। चतुर्भुज देव-रूपसे अर्जुनके दर्शन करनेका वर्णन महाभारतमें इससे पूर्व कहीं आया हो तो मुझे ध्यान नहीं है। किन्तु वर्णन न भी आया हो तो भी इन शब्दोंसे यही मान लेना चाहिये कि अर्जुनने किसी समय पहले चतुर्भुज देवस्वरूपका दर्शन किया था। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सभी लीलाएँ ग्रन्थोंमें नहीं लिखी गयीं, उनके चरित्रों-का विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है, और यह बात भी गुप्त थी, इसीसे 'तदेव' 'वही' कहकर अर्जुन इशारा करता है।

अब रही प्रभाव न जाननेकी बात, सो यद्यपि ४१ वें और ४२ वें श्लोकमें आये हुए शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि मानो अर्जुन भगवान्के प्रभावको नहीं जानता था परन्तु वास्तवमें ऐसी

बात नहीं है। अपनी लघुता दिखलाना तो भक्तोंका स्वभाव ही होता है। क्योंकि प्रभावके सम्बन्धमें स्वयं अर्जुनने गीतामें इससे पहले कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

(११। ३७-३८)

'हे महात्मन्! ब्रह्माके आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके

लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें, क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं। और हे प्रभो! आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।'

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्के प्रभावको जानता था और उनका प्रेमी भक्त था। न जानता होता तो ऐसे वचन क्योंकर कहता और क्यों स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे उसे 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' कहते और क्यों उसके रथके घोड़े हाँकनेका काम करते। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे साक्षात् परमात्मा मानता था परन्तु कभी न देखे हुए भयङ्कर विराट्रूपको देखकर उसने आश्चर्यचकित और भयभीत होकर ४१ वें और ४२ वें श्लोकमें वैसे वचन कह दिये। इसीलिये भगवान्ने आश्वासन देते हुए उसे 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः व्यपेतभीः' आदि कहकर एवं अपने देवरूपके दर्शन करवाकर निर्भय और शान्त किया। यदि भगवान्का प्रभाव जाननेमें अर्जुनकी यत्किञ्चित् कमी मानी जाय तो गीताके उपदेशसे उसकी भी सर्वथा पूर्ति हो गयी।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने विश्वरूपके बाद अर्जुनको चतुर्भुज देवरूपसे दर्शन दिये और फिर सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर उसे आश्वासन दिया।



गीतोक्त साम्यवाद



आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है । सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय । परन्तु विचारकर देखनेसे पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती, और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है । न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर, स्वभाव, गुण और कर्म आदिमें ही समता है । ऐसी अवस्थामें देश, काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्वत्र समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है । इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता, और न कभी हो सकता है ।

यथार्थ साम्यवादका विकास भारतीय ऋषियोंकी प्रज्ञासे हुआ था, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें खूब मिलता है । श्रीमद्भगवद्गीता-में तो श्रीभगवान्ने जीवन्मुक्तका प्रधान लक्षण 'समता' ही प्रति-पादन किया है । यह 'समता' ही सर्वोच्च साम्यवाद है, यही सच्ची एकता है, यही परमेश्वरका स्वरूप है । यह धर्ममय है, इसमें अमर्यादित उच्छृङ्खल जीवनको अवकाश नहीं है, यह परम आस्तिक है, रसमय है, शान्तिप्रद है, रहस्यमय है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये नाश करनेवाला है, मुक्ति देनेवाला है अथवा साक्षात् मुक्ति-रूप ही है; इसमें स्थित होनेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है । जो

पुरुष इस साम्यवादमें स्थित है वही स्थितप्रज्ञ है, वही गुणातीत है, वही ज्ञानी है, वही भक्त है और वही जीवन्मुक्त है। यह साम्य-वाद केवल कल्पना नहीं है; आचरणके योग्य है, और इसका आचरण सभी कोई कर सकते हैं, यह समता ही परमात्मा है। जिसने सर्वत्र ऐसी समता प्राप्त कर ली, उसने मानो समस्त संसारको जीतकर परमात्माको ही प्राप्त कर लिया। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

जहाँ यह समता है, वहीं सर्वोच्च न्याय है; न्याय ही सत्य है और सत्य परमात्माका स्वरूप है; जहाँ परमात्मा है, वहाँ नास्तिकता, अधर्म-भावना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, असत्य, कपट, हिंसा आदिके लिये गुञ्जाइश ही नहीं है। अतएव जहाँ यह समता है, वहाँ सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्त अभाव होकर सम्पूर्ण सद्गुणोंका विकास आप ही हो जाता है। क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही रागद्वेषादि सब दोषों और दुराचारोंकी उत्पत्ति होती

है, और समतामें इनका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वहाँ किसी प्रकारके दोष और दुराचारके लिये स्थान नहीं है।

समता साक्षात् अमृत है, विषमता ही विष है। यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों, सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें जिनकी समता है वे ही सच्चे महापुरुष हैं। इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६।९)

'(जो पुरुष) सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है, और सुख अथवा दुःखको भी (सबमें सम देखता है) वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है । जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२ । १८)

'(जो पुरुष) शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिमें सम है और (सब संसारमें) आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है) ।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(१४ । २४)

'(जो) निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है, (तथा) मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाव-वाला और धैर्यवान् है, (तथा) जो प्रिय और अप्रियको तुल्य

समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय 'सर्ववाचक' हैं और निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टि-रूप समस्त संसारमें आत्मभाव है वह समतायुक्त पुरुष है, और वही सच्चा साम्यवादी है।

इस समताका सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावोंसे है; इसमें सर्वत्र समदर्शन है, समवर्त्तन नहीं है। यह समत्व बाहरी व्यवहारोंमें सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाहरी व्यवहारोंमें तो दाम्भिक और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले भी ऐसा कर सकते हैं। इस समता-का रहस्य इतना गूढ़ है कि क्रिया और व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी इसमें वस्तुतः कोई बाधा नहीं आती। बल्कि देश, काल, जाति और पदार्थोंकी विभिन्नताके कारण कहीं-कहीं तो बाहरी व्यवहारमें विषमता न्यायसंगत और आवश्यक समझी जाती है। परन्तु वह विषमता न तो दूषित है और न उससे असली समतामें कोई अड़चन ही आती है।

एक विपद्ग्रस्त देश है, और दूसरा सम्पन्न है, इन दोनों देशोंमें व्यवहारमें विषमता रहेगी ही; विपद्ग्रस्त देशकी सेवा करना आवश्यक होगा, सम्पन्न देशकी नहीं। व्यवहारकी इस विषमताकी

आवश्यकताको कौन दूषित बतला सकता है ? हाँ, उस विपत्ति-ग्रस्त देशमें यदि ममता और स्वार्थके भावसे दुखी लोगोंकी सेवामें भेद किया जाय तो वह विषमता अवश्य दूषित है। मान लीजिये, एक जगह बाढ़ आ गयी; लोग डूब रहे हैं। वहाँ यदि यह भाव हो कि अमुक यूरोपियन है, हम भारतीय हैं, इससे भारतीयको ही बचावेंगे, यूरोपियनको नहीं; अथवा अमुक मुसलमान है, हम हिन्दू हैं, हम अपनी जातिवालेकी रक्षा करेंगे, विजातीयकी नहीं। इस प्रकारकी देश और जातिगत आन्तरिक भेदबुद्धिजनित विषमता अवश्य दूषित है। आपत्तिकालमें देश, काल, जाति और कुटुम्बका अभिमान त्यागकर सबकी समभावसे सेवा करनी चाहिये। ममता, स्वार्थ और आसक्तिवश जो देश, काल, पदार्थ, जाति आदिमें विषमताका व्यवहार किया जाता है वास्तवमें वही विषमता है। ऐसी विषमता महापुरुषोंमें नहीं होती।

इसी प्रकार काल-भेदसे भी व्यवहारमें विषमता रहती है; हम रातको सोते हैं, दिनमें व्यवहार करते हैं, प्रातः-सायं सन्ध्या-वन्दनादि ईश्वरोपासना करते हैं; यह विषमता आवश्यक है। ऐसे ही जिस समय दुर्भिक्ष पड़ता है, उसी समय अन्नदान दिया जाता है। जलदान ग्रीष्ममें आवश्यक है, सर्दीमें उतना नहीं। वस्त्रदान शीतमें आवश्यक है, गर्मीमें इतना नहीं। अग्नि जलाकर जाड़ेमें तापा जाता है, गर्मीमें नहीं। छाता वर्षाकालमें लगाया जाता है, जाड़ेमें नहीं लगाया जाता। परन्तु यह विषमताका व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं, आवश्यक माना जाता है।

खान-पान और व्यवहारमें गौ, कुत्ते, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें विषमता सर्वथा युक्तियुक्त है। गौ और हाथीका खाद्य घास-पात है, मनुष्यका नहीं। कुत्ता मांस भी खाता है, परन्तु वह गौ तथा हाथीके लिये उपयोगी नहीं; मनुष्यके लिये तो अत्यन्त ही अनुपयोगी है। इन सबका परस्पर एक दूसरेके साथ खान-पान कभी सम्भव नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, तीनों पशुओंमें भी व्यवहारमें बड़ी विषमता है। हाथीकी जगह कुत्तेपर सवारी कोई नहीं कर सकता, गौकी जगह कुतियाका दूध नहीं पिया जा सकता। जो लोग समदर्शनको समवर्तन सिद्धकर व्यवहारमें अभेद लाना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म ही नहीं समझते। इनका भेद तो प्रकृतिगत है जो किसी तरह भी मिटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, इन ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ और कुत्ते आदि किसी भी प्राणीको दुःखकी प्राप्ति होनेपर उसके दुःखको निवारण करके उसको सुख पहुँचानेके लिये वैसा ही समान व्यवहार करना चाहिये जैसा हम अपने हाथ, पैर, मस्तक आदिका दुःख निवारण करके सुख पहुँचानेके लिये करते हैं। इसी प्रकार 'आत्मत्व' भी सबमें ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसा हमारा अपनी देहमें है। इसी समताका नाम समता है।

इसी प्रकार मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें भी व्यावहारिक भेद आवश्यक है। मिट्टीके ढेलेको सँभालकर रखनेकी जरूरत

नहीं, परन्तु सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। सोनेके बदले मिट्टी या पत्थरका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इनके संग्रह-ग्रहण, आदान-प्रदान, व्यवहार और मूल्य आदिमें विषमता रहती ही है; परन्तु हाँ, आन्तरिक भावमें इनमें भेद नहीं होना चाहिये। अपना सङ्कट निवारण करनेके लिये जैसे धनको मिट्टीकी तरह समझकर खर्च किया जाता है, उसी प्रकार न्याय प्राप्त होनेपर दूसरे प्राणीके हितके लिये भी धनको धूलके समान समझकर व्यवहार करना चाहिये। लोभवश धनका संग्रह करने और न्यायसङ्गत आवश्यकता आनेपर खर्च न करनेमें विषमता है। जहाँ यह विषमता होगी, वहाँ न्यायान्यायका विचार छोड़कर धनका संग्रह होगा और न्यायसङ्गत खर्चमें हिचकिचाहट होगी। अतएव अन्यायसे उपार्जन करनेके समय और न्याययुक्त खर्चके समय धनको धूलके समान समझकर वैसे उपार्जनसे हट जाना और खर्च करनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिये। यही 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' है। एकके कुछ भी धन नहीं है, दूसरा धन और भोगपदार्थोंका संग्रह करता है; परन्तु यदि वह अपने और कुटुम्बके लिये या भोगसुखके लिये न करके सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितके लिये ही करता है तो इस संग्रहमें विषमता होनेपर भी यह दूषित नहीं है वरं आवश्यक है।

पदार्थोंकी विषमता लीजिये—अग्नि और जलमें विषमता है, विष और अमृतमें विषमता है, मीठे और कटुमें विषमता है, पथ्य और कुपथ्यमें विषमता है। व्यवहारमें पुरुष और स्त्री-जातिमें विषमता है; पुरुष-पुरुषमें भी पिता और पुत्रमें भेद आवश्यक है,

स्त्री-स्त्रीमें भी माता और स्त्रीमें भेद रखना धर्म है । अपने ही शरीरमें दाहिने और बायें हाथमें भी व्यवहारका भेद युक्तिसङ्गत है । संसारमें जहाँ विशेष समताका उदाहरण दिया जाता है वहाँ कहा जाता है कि 'ये दोनों हमारे दायें-बायें हाथके समान एक-से हैं ।' परन्तु देखा जाता है कि दाहिने-बायें हाथके व्यवहारमें परस्पर बड़ा अन्तर है । खान, पान, दान, सम्मान आदि उत्तम व्यवहार और प्रधान-प्रधान क्रियाएँ अधिकांशमें दाहिने हाथसे की जाती हैं और शौचादि अपवित्र व्यवहार बायेंसे होते हैं । इसी प्रकारका व्यवहारका भेद अपने अङ्गोंमें भी है । पैर, हाथ, मस्तक आदि एक ही शरीरके अङ्ग हैं; परन्तु चरणसे शूद्रका, हाथोंसे क्षत्रियका और मस्तकसे ब्राह्मणका-सा व्यवहार होता है । किसीका सत्कार करते समय सिर झुकाया जाता है न कि पैर सामने किया जाता है । सिरपर लाठी आती हो तो हाथोंकी आड़से उसे बचाते हैं न कि पैरोंकी आड़ की जाती है । पैरोंपर लाठी लगनेकी सम्भावना होनेपर उन्हें सिकोड़कर बैठ जाते हैं और पैरोंको बचाकर हाथोंपर और पीठपर चोट सह लेते हैं । किसी दूसरे मनुष्यके चरणका स्पर्श हो जानेपर मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं । अङ्ग सभी हमारे हैं, फिर पैर लगा तो क्या और हाथ छू गया तो क्या । परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं माना जाता ! मस्तकके हाथ स्पर्श करनेसे हाथको अपवित्र नहीं मानते किन्तु उपस्थ-गुदादि इन्द्रियोंसे छू जानेपर हाथ धोते हैं । जब अपने एक ही शरीरमें व्यवहारका इतना भेद आवश्यक और युक्ति-युक्त समझा जाता है, तब देश, काल, जाति

और पदार्थोंमें रहनेवाले अनिवार्य भेदको दूषित मानना तो सर्वथा अयुक्त और न्यायविरुद्ध है । इतना भेद होनेपर भी आत्मदृष्टिमें कोई भेद नहीं है । किसी भी अङ्गके चोट लगनेपर उसे बचानेकी चेष्टा समान ही होती है और दुःख-दर्द भी समान ही होता है । प्रसूति और रजस्वला अवस्थामें हम अपनी पूजनीया माताके साथ भी अस्पृश्यताका व्यवहार करते हैं, किन्तु वही माता यदि बीमार हो तो हम उसी अवस्थामें आदरपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और तदनन्तर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं । इसी प्रकार पशु, पक्षी या मनुष्य आदिमें जो अस्पृश्य माने जाते हैं, उनके साथ अन्य समय व्यवहारमें भेद होनेपर भी उनकी दुःखकी स्थितिमें प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये । सेवा करनेके बाद स्नान करनेपर मनुष्य पवित्र हो जाता है । इस प्रकार शास्त्रानुमोदित व्यवहारकी विषमता आवश्यक और उचित है । इसको अनुचित मानना ही अनुचित है । अवश्य ही आत्मामें इससे कोई भेद नहीं आता और न भेद मानना ही चाहिये । भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(६ । २९)

'हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है । जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है,

वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है ।'

श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईश० ६-७)

'जो विद्वान् सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह फिर किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करता । तत्त्ववेत्ता पुरुषके लिये जिस कालमें सम्पूर्ण भूतप्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् वह सबको आत्मा ही समझ लेता है, उस समय एकत्वको देखनेवालेको कहाँ शोक और कहाँ मोह है ?'

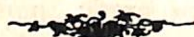
इस प्रकार व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भगवत्-प्रीत्यर्थ या लोकसंग्रहके लिये ममता और स्वार्थसे रहित होकर, न्याययुक्त विषमताका व्यवहार करते हुए भी, सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखना, और रागद्वेष आदि विकारोंसे रहित होकर मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंमें सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है । इसी साम्यवादसे परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है ।

आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थ-मूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमान-शून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही नहीं; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेष-रहित व्यवहार है।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषोंको इस गीतोक्त साम्यवादका ही आदर करना चाहिये।



सांख्ययोग और कर्मयोग



गीता अध्याय ५ श्लोक ५ में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है ।' परन्तु इस विषयमें यह शंका होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं । यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त

भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं माळूम पड़ता, क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है ।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान रहता है ।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है ।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है । परन्तु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्म-सत्ता ही है ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान् मानता है । अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है ?

उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

(गीता ५ । ४)

'सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ।' परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है । परमधाम, परम-पद और परमगतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं ।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परन्तु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देश (अमेरिका) को जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशा (भारतवर्ष) से पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व जाता है किन्तु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न-भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है परन्तु उस देशमें पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इस प्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये साधन भी अनेक हो सकते हैं।

जैसे सूर्य और चन्द्रग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो कहता है कि पृथिवी स्थिर है सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथिवी भी चलती है। दोनोंका मत भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और मतकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी

दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वरकी प्राप्ति होनेसे वह एक ही है ।

अब सांख्य* और कर्मयोग† की एकताके विषयमें लिखा जाता है । उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है । उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी ।

गीताके अनुसार सांख्ययोगीकी निष्ठामें विज्ञानानन्दघन केवल एक आत्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है । उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें बादलकी । इसलिये सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वेष, ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदेशका सेवन करता है । एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें किये हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन करता हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इस प्रकार ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है । उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है । वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता । इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं । वह सीमारहित, अपार और अनन्त है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो भी

---

*-† गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शनसे भिन्न समझना चाहिये ।

कुछ हैं, सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोधस्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्द-घन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प ही नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मा-में निश्चल हो जाती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

सांख्ययोगी व्यवहार-कालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड़,

---

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
(गीता १३।५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं इस प्रकार समझता है। एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है। यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके सङ्कल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तारको देखता है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यासके परिपक्व होनेसे वह ब्रह्मको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपतासे प्राप्त हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५।१७)

'हे अर्जुन! तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उसके

विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। तथापि साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किञ्चित् जो कुछ समझमें आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण, प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जानेपर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर ही देखता है अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीरोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण (अज्ञानसे) प्रतीत होनेवाले भूतों (जीवों) के पृथक्-पृथक् भावोंको अज्ञानके नाश हो जानेपर उन जीवोंकी नाना सत्ताको केवल उस एक अनन्त, नित्य-विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर ही देखता है अर्थात् वह केवल एक विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं देखता। यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्तःकरणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूतप्राणियोंका उपादान-कारण* और निमित्त-

---

* उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है।

कारण* केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है, क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे ? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है । इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं ।

गीताके अनुसार कर्मयोगकी निष्ठामें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर यह तीन पदार्थ माने गये हैं । सातवें अध्यायमें भगवान्ने मायाके विस्तारको अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है । पन्द्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नामसे कहा है । वे सर्वशक्तिमान्, सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं† यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही हैं । उन्होंने ही अपनी योगमायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रक्खा है‡ । माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके अधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके

---

* निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है । जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार ।

† ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

‡ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(गीता १० । ४२)

कारण नित्य विज्ञानानन्दघनस्वरूप है*। किन्तु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। परन्तु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है। गी० अ० ७ श्लो० १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, याने मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर भी शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

---

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

व्यवहारकालमें कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार, भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

(गीता ५ । ३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवत्की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌की आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है, जैसे गीता अ० १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्‌की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य-निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है । जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(१५ । १९)

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है । इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता। और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस भक्तकी भगवान्‌से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्‌की कृपासे वही परमधाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है ।'

परन्तु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है और वह भगवान्को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है । इसलिये वह पुरुष भगवान्में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्के परम दिव्य नित्य-धामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता ।

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं । और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, सन्तोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं ।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता। सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने-आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है। फलतः बात एक ही है। इसीलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है, क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है। यह परम गोपनीय रहस्य है, और सम्पूर्ण साधनोंका फल है। जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है परन्तु इस प्रकार भी कहना नहीं बनता। जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है उससे वह विलक्षण ही रह जाता है। जाननेवाले ही उसको जानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये। श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्व-ज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे क्षुरके तीक्ष्ण धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवान्में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। यानी सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

किन्तु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धा प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है।

इसलिये महान् पुरुषोंका संग करके* परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं।



* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनकी आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लगना संग करना है।

देशकालतत्त्व



देश और कालके सम्बन्धमें हमलोगोंका जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और सङ्कुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश, और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है, और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश, और युग, वर्ष, मास, दिन आदिको काल समझते हैं वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय देश-कालका क्या स्वरूप होता है? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश-काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है, और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह

अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता । वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है । उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है । वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है । जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित रहती है, और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है । सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं ।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । (गीता १४ । ५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
(१३ । १९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी । सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ, तथा तमोगुणसे पञ्च स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति हुई है । इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश* हमारे इस व्यक्त स्थूल देशका आधार है । इसी

---

* यह आकाश प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और लय धर्मवाला है । माया यानी प्रकृति इसका आधार है । प्रकृतिका आधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप

प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदिरूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है। यह देश-कालका स्थूल रूप है। यह जड और अनित्य है। सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्तास्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे, और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है। स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते हैं परन्तु सूक्ष्म, देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है। महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है। वही मूल महादेश और महाकाल है। वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अव्यभिचारी है। वह कालका भी महाकाल * और देशका भी

आकाशका एक स्थूल स्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है, और माया परमात्मामें वैसे ही है जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी प्रकृतिसहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥
(कठ० १।२।२४)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक-दाल आदि) है वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है ?'

महादेश है, सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं। परमात्माका यह नित्य सनातन, शाश्वत और चिन्मय स्वरूप ही देश-कालका आधार है। यह सदा-सर्वदा एकरस है। अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है। हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है, और बुद्धिके अन्तर्गत है। बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है। इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती, क्योंकि यह बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है। इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है, और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१–नित्य महादेश या नित्य महाकाल।

२–प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल।

३–प्राकृत यानी प्रकृतिका कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल काल।

इनमें पहला चेतन, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं।

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप,

नित्य ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है, और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर और कल्प; युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सर्वाधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है जो नित्य, शाश्वत, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके नामसे कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला होनेके कारण उस सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-काल बतलाया जाता है। संक्षेपमें यही देशकालतत्त्व है।



मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है ?



प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्त्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परन्तु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था। घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रक्खा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता ! मैं न पूर्वजन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था, और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ साङ्केतिक नाम है ! यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है, और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुखी नहीं होता। जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिमें

सुखी-दुखी होता है तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है । जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती । इसीलिये श्रीभगवान्‌ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (गीता १२ । १९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४ । २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ । इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ । बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किन्तु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ । किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता । देहका रूप बदल गया । शरीर बढ़ गया, मूँछें आ गयीं । इससे वह नहीं पहचानता । किन्तु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ । मैंने आपको अमुक जगह देखा था । उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके । इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ । किन्तु 'शरीर

मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।'
(गीता १२ । १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४ । २५)

'समदुःखसुखः स्वस्थः' (गीता १४ । २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर भी मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ; और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था। अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता

परन्तु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्छित अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कामोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इस कारण मुझसे भूल हो गयी। क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपूर्वक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चञ्चल और चल है परन्तु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता आदि भी विकार होते हैं परन्तु मैं इन सबसे रहित और इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति

नहीं हूँ । मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ । यही मैं हूँ । यही मेरा सच्चा स्वरूप है । क्लेश*, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है । इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है । मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्गुण आदिके सेवनसे होता है । और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं । यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है किन्तु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता । एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता । अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये । ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है । श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८ । ६२)

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (यो० २ । ३) अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि, राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं ।

'हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा ।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण * होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है । जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्‌को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरकी शरण और कृपासे, देहादि सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है, एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है । प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है ।



* शरणका सार अर्थ है श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम भावसे प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, गुण और प्रभावसहित उसके स्वरूपका चिन्तन करना, एवं हमारे कर्मोंके अनुसार परमेश्वरकृत सुख-दुःखादि विधानमें सर्वथा समचित्त रहना ।

अमूल्य शिक्षा



अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्ष-की भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है ।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह समाधिका लक्षण है ।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है ।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारका भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी ?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अन्दर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षण भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त सांसारिक पदार्थोंको तथा शरीरको क्षणभंगुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतङ्ग, कुत्ते, सूअर और गदहे भी पेट भरनेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनकी शरीर और संसार अर्थात् क्षणभंगुर नाशवान् जड़वर्गमें सत्ता नहीं है, वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका मनुष्य-जन्म सफल है।

जो समय भगवद्भजनके बिना जाता है वह व्यर्थ जाता है। जो मनुष्य समयकी कीमत समझता है, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति दूर होती है, इसके बाद संसारकी सत्ता मिट जाती है। एक परमात्मसत्ता ही रह जाती है।

संसार स्वप्नवत् है। मृगतृष्णाके जलके समान है, इस प्रकार समझकर उसमें आसक्तिके अभावका नाम वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव संसारकी स्थितिपर विचारकर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं, परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही

भगवान्की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हें मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

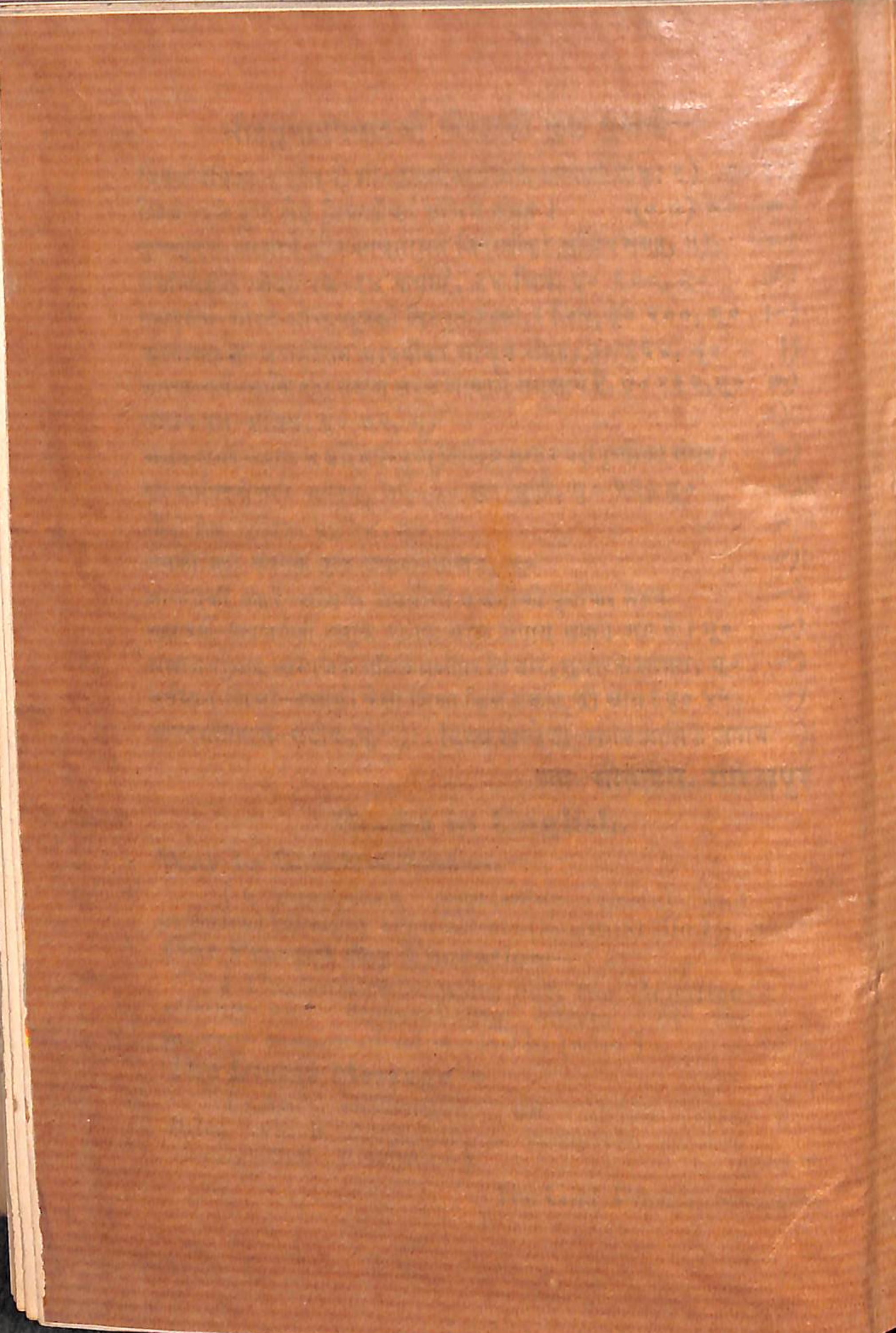
शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

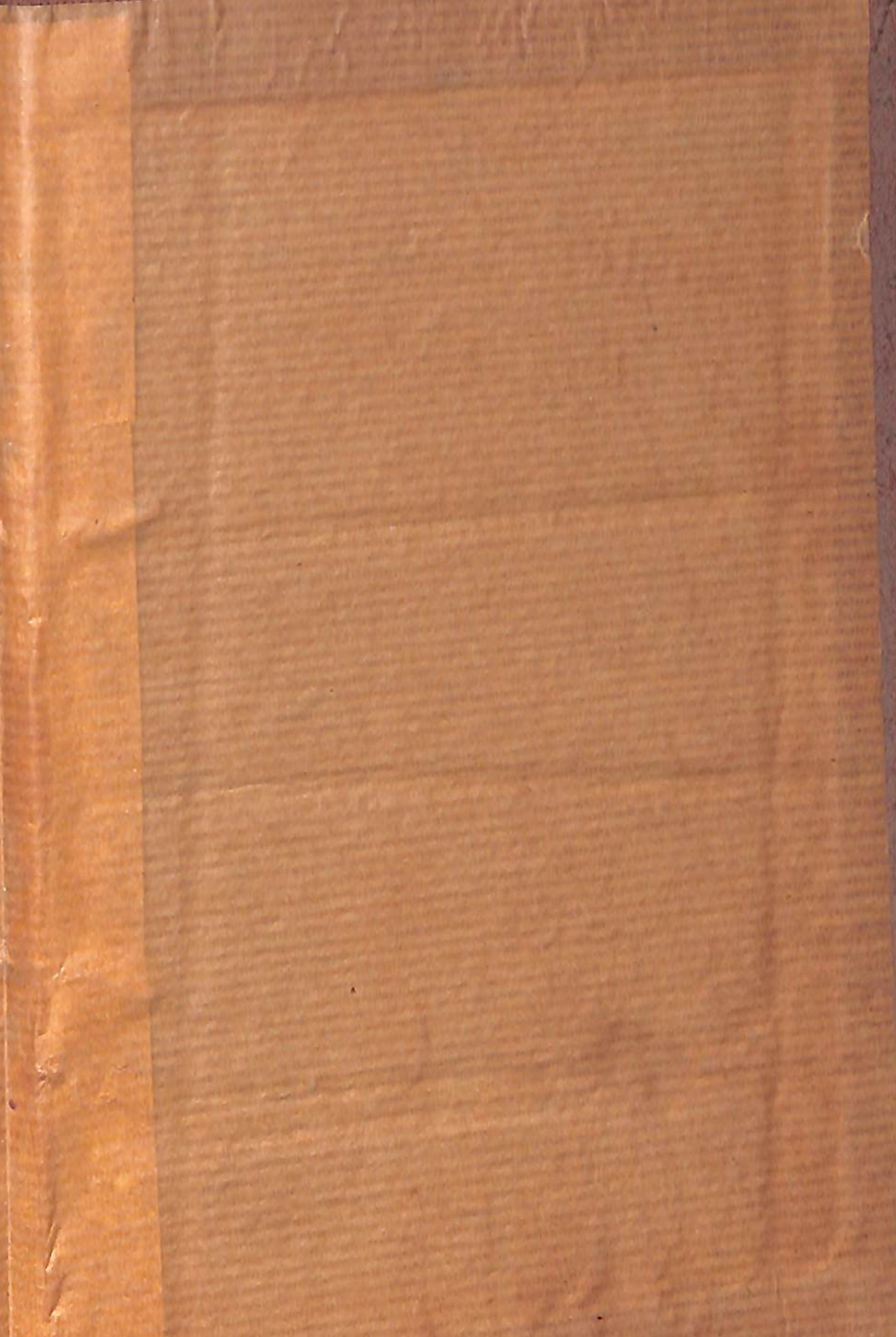
जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा संसारमें उद्धारका और कोई सरल उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर और जो कुछ भी हैं, भगवान्का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ़ धारणा होनेसे ही निरन्तर भजन हो सकता है।





श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी अन्य पुस्तकें—







मिलनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर ।